चतुर्थ अध्याय

हिंदी आलोचना की भाषा

आलोचना एक विचारप्रधान विधा है। विचार की भाषा भाव की भाषा से भिन्न होती है। सी.के. ऑगडेन और आइ.ए. रिचर्ड्स की इस बात से आचार्य रामचंद्र शुक्ल सहमत होते हैं कि भाषा के दो प्रकार के प्रयोग होते हैं—सांकेतिक (सिम्बॉलिक) या तथ्यबोधक तथा भावप्रवर्तक (इमोटिव)। इसमें से प्रथम प्रकार यानी भाषा के सांकेतिक या तथ्यबोधक प्रयोग को वह आलोचना विधा के उपयुक्त मानते हैं, दूसरे प्रकार के प्रयोग को नहीं।[1]

स्थापित मान्यता है कि अंतर्वस्तु अपना रूप स्वयं लेकर आती है या भाव ही भाषा की भंगिमा को तय करता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि आलोचक का उद्देश्य आलोचना की उसकी भाषा को निर्धारित करता है। 'नयी कहानी आलोचना' के लेखक उदय शंकर ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि "**भाषा का सवाल मूलतः आलोचना के प्रति आलोचक के रवैये का सवाल है**।"[2] तब किसी आलोचक की भाषा का विश्लेषण करने के क्रम में आलोचना-संबंधी उसके दृष्टिकोण का विश्लेषण भी अनिवार्य है।

4.1 रामचंद शुक्ल की आलोचना-भाषा

जिस दौर में आचार्य रामचंद्र शुक्ल आलोचना लिख रहे थे, वह दौर पश्चिम के प्रमुख साहित्यिक केंद्रों की साहित्यिक विचार-विमर्श के दायरे में कलावाद और अभिव्यंजनावाद की प्रबलता का दौर था । शुक्लजी के अनुसार कलावाद और अभिव्यंजनावाद के प्रभाव से यूरोप में समीक्षा के क्षेत्र में उन दिनों भाँति-भाँति की अर्थशून्य पदावलियाँ प्रचलित हो रही थीं। कुछेक के उदाहरण भी वे प्रस्तुत करते हैं, जैसे- "कला कला के लिए के भारी प्रतिपादक डॉक्टर ब्रैडले की यह प्रशस्ति—'कविता एक आत्मा है। पता नहीं कहाँ से आती है। न तो हमारे आदेश पर वह बोलेगी, न हमारी भाषा में बोलेगी। वह हमारी दासी नहीं है, हमारी स्वामिनी है।"[3] इस तरह के वाक्य, समीक्षा के नाम पर ऐसे कल्पनात्मक या भावात्मक वागाडम्बर का प्रदर्शन आचार्य रामचंद्र शुक्ल को उचित नहीं लगता। उनके अनुसार समीक्षा या आलोचना का अर्थ 'अच्छी तरह देखना और विचार करना है।'[4] साहित्यिक रचना अर्थात् कल्पनात्मक या भावात्मक कृति को अच्छी तरह देखकर उसपर विचार करना ही समीक्षा का लक्ष्य है और यह काम कल्पनात्मक साहित्य के जोड़ में दूसरी कल्पना भिड़ाने से नहीं हो सकती। कलानिरूपिणी समीक्षा वैज्ञानिक होती है और इसी कारण उसकी भाषा तर्क या शास्त्रपक्ष के अनुरूप होनी चाहिए। **काव्य या साहित्य का स्वरूपबोध कराने वाली भाषा अगर काव्य की भाषा होना चाहेगी तो उसमें 'अर्थशून्य पदावली' की भरमार होगी और फलतः उसमें विचारशीलता का ह्रास होगा और आलोचना हवाई हो जाएगी।**

समीक्षा या आलोचना की विचारात्मक गरिमा के अनुरूप रामचंद्र शुक्ल ने कलावादी तथा प्रभाववादी आलोचना के बरक्स अपनी आलोचना भाषा का निर्माण किया। भाषा के विषय में सामान्य कथन से विशेष उद्देश्य की तरफ अग्रसर होते हुए वे लिखते हैं- "लोक में जैसे और सब विषयों का प्रकाश मनुष्य की वाणी या भाषा द्वारा होता है वैसे ही काव्य का प्रकाश भी। भाषा का पहला काम है शब्दों के द्वारा अर्थ का बोध कराना। यह काम वह सर्वत्र करती है—इतिहास में, दर्शन में, विधान में, नित्य की बातचीत में, लड़ाई-झगड़े में और काव्य में भी।"[5] **भाषा-प्रयोग का प्रथम उद्देश्य और प्रमुख योग्यता शब्दों के द्वारा अर्थ का बोधन है**। अर्थ-बोधन के बाद ही भावोन्मेष या चमत्कारपूर्ण अनुरंजन की प्रक्रिया संभव होती है। निरर्थक प्रयोग से न भावोन्मेष होता है न ही अनुरंजन। भाषा द्वारा अर्थ का बोधन और भावन दोनों होते हैं अतः इनके आधार पर भाषा-प्रयोग का स्वरूप भी दो प्रकार का होता है. जिन्हें सांकेतिक तथा भावप्रवर्तक प्रयोग की संज्ञा दी जाती है।

आलोचना में चूँकि व्याख्या-विश्लेषण-मूल्यांकन के उपयुक्त सांकेतिक भाषा का प्रयोग अपेक्षित है, आचार्य शुक्ल ने इसके कुछ लक्षण भी प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से सुझाए हैं जो स्वयं उनकी आलोचना-भाषा के विश्लेषण के लिए उपयोगी हैं-

- विचारप्रधान लेखन में भाषा का प्रयोग इस सावधानी से हो कि पढ़नेवालों में भ्रम की संभावना न रहे। अतः जो बात पहले आवश्यक है वह है भाषा की शुद्धता और वाक्य रचना की व्यवस्था।[6]
- लेखन-कला के नियमों सम्यक ज्ञान यानी निपुणता। इस कला में निपुण लेखक जिस बात को चार पंक्तियों में सम्प्रेषित कर सकता है, उसी को लेखन कला से कोरा मनुष्य पूरा एक पन्ना रंग कर भी नहीं समझा सकता। निपुण-अनिपुण का भेद इस बात की भी पुष्टि करता है कि कथन का लाघव (मितव्ययिता) अच्छे

लेखक का गुण है। शुक्लजी के शब्दों में- "**आवश्यकता से अधिक शब्द व्यय लेखक का अनाड़ीपन प्रकट करता है**।"[7]

- जिनके मस्तिष्क (अंतःकरण) में विचारों का उदय स्पष्टता के साथ होता है उनके लेखन की भाषा में तुले हुए शब्द और वाक्य मिलते हैं। पर जिनकी विचारमाला अव्यवस्थित और गड़बड़ होती है, उनकी भाषा में ऐसी स्वच्छता नहीं होती। वे किसी बात को आइने की तरह झलका नहीं सकते। उनके लेखन में बहुत-से अशक्त शब्द असली विचारधारा को आच्छन्न किए रहते हैं जिससे पढ़नेवालों का जी ऊबता है।[8]
- आलोचक अपनी तर्क पद्धति के अनुसार विचारों को ऐसे रूप में व्यक्त करे कि पढ़ने वाला उसकी विचार परम्परा में पूरा योग दे सके। इसके लिए वह अनेक प्रकार के दृष्टांत दे, प्रमाण में आप्त वचन उद्धृत करे। साथ ही सुंदर पद विन्यास, शब्द चमत्कार, अलंकार आदि के फेर में न पड़े बल्कि शब्दों और वाक्यों का विधान उनकी अर्थशक्ति को ध्यान में रखकर करे क्योंकि उसका लक्ष्य वस्तुबोध कराना है भावोत्तेजन नहीं।[9]
- आलोचना की भाषा अपने प्रतिपाद्य विषय के अनुसार सरल या क्लिष्ट हो सकती है। हालाँकि आलोचक को भरसक सरल और सुबोध भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए, पर **विषय की गूढ़ता के अनुसार कहीं-कहीं भाषा का क्लिष्ट होना अनिवार्य भी होता है**। विचारप्रधान लेख या आलोचना की भाषा में मुख्य उद्देश्य यह होता है कि वह विचारों की शृंखला इस प्रकार प्रस्तुत करे कि समग्र रूप से लेखक या आलोचक का समूचा तात्पर्य अभिव्यक्त हो सके और पढ़ने वालों को उसकी यथार्थता स्वीकार करने में अधिक समय न लगे।[10]

स्पष्ट है कि शुक्लजी मनुष्य-जीवन में और साहित्य-निरूपण में विचार-क्षेत्र का बहुत महत्व स्वीकार करते हैं अतः विचार को सम्प्रेषित करने की भाषा के प्रयोग को लेकर भी अपेक्षित सावधानी और तैयारी की माँग करते हैं। अपने लेखन से इस माँग की पूर्ति भी करते हैं।

'कविता क्या है' निबंध शुक्लजी की सैद्धांतिक आलोचना का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। कविता पर बात करते हुए, कविता के लक्षण और प्रयोजन का निरूपण करते हुए उनके शब्द प्रयोग और वाक्य-गठन पर ध्यान दें-

"कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है, इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किए रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति योग के अभ्यास से हमारे मनोविकार का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है।"[11]

इस उद्धरण में विचार से शब्द इस तरह सम्बद्ध हैं कि एक भी शब्द इधर से उधर नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करने से विचार की शृंखला बिखर जाएगी और अर्थ की प्राप्ति भी नहीं होगी। एक मिश्र वाक्य, दो सरल वाक्यों और एक संयुक्त वाक्य यानी कुल चार वाक्यों में उन्होंने कविता की महत्ता को गहराई से समझा दिया है और इस प्रक्रिया में आई जटिल अवधारणाओं को स्पष्ट भी कर दिया है। हृदय का स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर जाने का मतलब क्या हुआ? इसका मतलब हुआ कि जितनी देर हम कविता या साहित्य पढ़्ने-सुनने, उसपर चिंतन में लीन हैं, उतनी देर के लिए अपना पता न रहना। अपना पता कैसे नहीं रहता? अपने स्व के व्यक्तिगत दायरे को

सम्पूर्ण मनुष्यता यानी लोक-सत्ता में लीन कर देने से अपना पता नहीं रहता। मनुष्यता का निर्माण अनुभूतियों से हुआ है, समूची मनुष्यता का हम एक अंश हैं, इस मनुष्यता रूपी अंशी के साथ हमारे मन की अनुभूतियों के एकाकार होने से ही हमारे निजी अस्तित्व का, स्वार्थ का दायरा विस्तृत होता है। अतः यह एक प्रकार का योग हुआ। इस योग को क्या कहेंगे? अनुभूति योग कहेंगे। इस अनुभूति योग की हमें क्या आवश्यकता है? अपने मनोविकारों के परिष्कार के लिए हमें इसकी आवश्यकता है। मनोविकारों के परिष्कार की आवश्यकता क्यों है? हमारे अपने और निकट सम्बन्धियों जिनसे सहयोग पाकर हमारा भौतिक और आत्मिक जीवन समृद्ध होकर चलता है, उनके अलावा जो संसार है-प्रकृति है वह समग्रता में मिलकर ही हमारे लिए समृद्ध होकर जीने की स्थितियाँ बनाता है। हमारे जीने की स्थितियाँ समृद्ध हों इसके लिए सारी सृष्टि से हमारे रागात्मक (विरोधी नहीं) सम्बन्ध का स्थापित होना और बने रहना आवश्यक है। जिन तत्त्वों से हम लगाव अनुभव न करें, उनसे सम्बन्ध-निर्वाह नहीं हो सकता। अतः इसके लिए हमारे मन के भावों का परिष्कार और व्यायाम जरूरी है ताकि हम प्रेम और लगाव के योग्य बने रहें। शुक्लजी की बात की गहराई में जाकर और बातें निकाली जा सकती हैं। पर यहाँ कहना यह है कि **शुक्लजी की आलोचना-भाषा में सामासिक शैली के सटीक प्रयोग से कम शब्दों में बहुत-सी बातें स्पष्टतः सम्प्रेषित करने की क्षमता है।**

हर जगह और हर पंक्ति में ऐसा प्रयोग पाठक के लिए अतिरिक्त श्रमसाध्य भी हो सकता है और एकरसता के कारण ऊबाऊ भी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल इस सामासिक भाषा का प्रयोग हमेशा नहीं करते। 'कविता क्या है' निबंध में ही अगले अनुच्छेद में इस तरह का वर्णनात्मक प्रयोग मिलता है-

"वन, पर्वत, नदी, नाले, निर्झर, कछार, पटपर, चट्टान, वृक्ष, लता, झाड़, फूस, शाखा, पशु, पक्षी, आकाश, मेघ, नक्षत्र, समुद्र इत्यादि ऐसे ही चिर सहचर रूप हैं। खेत, ढुर्री, हल, झोंपड़े, चौपाये इत्यादि भी कुछ कम पुराने नहीं हैं। इसी प्रकार पानी का बहना, सूखे पत्तों का झड़ना, बिजली का चमकना, घटा का घिरना, नदी का उमड़ना, मेह का बरसना, कोहरे का छाना, डर से भागना, लोभ से लपकना, छीनना, झपटना, नदी या दलदल से बाँह पकड़कर निकालना, हाथ से खिलाना, आग में झोंकना, गला काटना ऐसे व्यापारों का भी मनुष्य जाति के भावों के साथ अत्यंत प्राचीन साहचर्य है। ऐसे आदि रूपों और व्यापारों में वंशानुगत वासना की दीर्घ-परम्परा के प्रभाव से, भावों के उद्बोधन की गहरी शक्ति संचित है, अतः इनके द्वारा जैसा रस-परिपाक संभव है वैसा कल-कारखाने, गोदाम, स्टेशन, एंजिन, हवाई जहाज ऐसी वस्तुओं तथा अनाथालय के लिए चेक काटना, सर्वस्वहरण के लिए जाली दस्तावेज बनाना, मोटर की चरखी घुमाना या एंजिन में कोयला झोंकना आदि व्यापारों द्वारा नहीं।"[12]

वस्तुओं तथा व्यापारों में स्वदेशी-विदेशी, परम्परागत-आयातित के भेद को दिखाने के लिए वे कुछेक शब्दों की सहायता भी ले सकते थे, लेकिन उससे अर्थ स्पष्ट हो जाता पर वह आशय नहीं जो वे अर्थ के साथ ही सम्प्रेषित करना चाहते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना भाषा के विषय में रामविलास शर्मा का सटीक अवलोकन हैं- "शुक्लजी की शैली वैज्ञानिक विवेचन की शैली है। उनमें कलात्मक सौंदर्य पैदा करने की कोशिश नहीं की गई। फिर भी यह शैली एक-सी नहीं है।...जहाँ-तहाँ आवेशपूर्ण वाक्य या आलंकारिक शैली आ गई है, वह मरुभूमि में जलाशय की तरह। 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य', 'काव्य में रहस्यवाद' आदि निबंध खूब प्रवाहपूर्ण हैं। इनमें एक सरस वक्ता की आवेशपूर्ण शैली का आनन्द मिलता है। शुक्लजी की आलोचना जब

लड़ाकू रूप धारण करती है, तब उनकी शैली बहुत-ही स्वाभाविक और मनोरंजक होती है।"[13] शर्माजी के अवलोकन की पुष्टि के लिए 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' से एक उद्धरण पर्याप्त होगा- "आजकल पाश्चात्य वादवृक्षों के बहुत-से पत्ते –कुछ हरे नोचे हुए, कुछ सूखकर गिरे पाए हुए—यहाँ पारिजातपत्र की तरह प्रदर्शित किए जाने लगे हैं, जिससे साहित्य के उपवन में बहुत गड़बड़ी दिखाई देने लगी है। इन वृक्षों की परह के लिए अपनी आँखें खुली रखने और उन पेड़ों की परीक्षा करने की आवश्यकता है जिनके वे पत्ते हैं। पर यह बात हो नहीं रही है।"[14] आलोचना में इस तरह के भाषिक प्रयोग सरसता या मनोरंजन के दृष्टिकोण से ही नहीं होते, बल्कि ये सपाट भाषा की इतिवृतात्मकता से अधिक अर्थगर्भ या विचारक्षम होते हैं।

आचार्य शुक्ल की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रचुर प्रयोग को रामविलास शर्मा ने भी उल्लिखित किया है लेकिन साथ ही यह भी कहा है कि बाद के आलोचकों की तुलना में आचार्य शुक्ल के यहाँ तत्सम कम ही मिलते हैं। इस बात से यह ध्वनित होता है कि हिंदी आलोचना में तत्सम की प्रचुरता बहुत प्रशंसनीय नहीं है। शुक्लजी द्वारा शब्दों के तद्भव रूपों का 'धड़ल्ले से' प्रयोग उन्हें अधिक वांछनीय लगता है। प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग भी शुक्लजी के यहाँ अस्पृश्य नहीं है। शुक्लजी की भाषा की इन विशेषताओं की तरफ शर्मा जी ने भी ध्यान दिलाया है। देखना यह है कि इन विशेषताओं से शुक्लजी की आलोचना-भाषा के विषय में तथा प्रसंगवश उनके आलोचकीय दृष्टिकोण के विषय में क्या निष्कर्ष निकलते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के सामने साहित्य-निरूपण की विरासत संस्कृत की और तत्कालीन आधुनिक आदर्श अंग्रेजी का था। साहित्य पर विचार करने का अपना परम्पराप्राप्त अनुशासन था जिसमें वे सभी सुचिंतित अवधारणाएँ-संकल्पनाएँ मौजूद हैं

जिनसे रचना के रूप और भावपक्ष का विश्लेषण हो सकता है और उनके लिए सदियों में विकसित की गई समृद्ध शब्दावली भी मौजूद है । आधुनिक अंग्रेजी आलोचना भी आलोचना को साहित्य का शास्त्रीय-वस्तुपरक अध्ययन मानती है जिसके लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ अपनी सुनिश्चित शब्दावली की आवश्यकता हो । शुक्लजी की आलोचना-भाषा में संकल्पनाओं के लिए तत्सम शब्दावली का ही प्रयोग हुआ है। पर यह भी विद्वानों द्वारा मान्य बात है कि शुक्लजी ने पुरानी शब्दावली को नये संदर्भ में परिभाषित कर उनका प्रयोग किया है। एक लम्बी परम्परा से जुड़े होने के चिह्नस्वरूप भी उनकी भाषा मे तात्समिकता है। हालांकि यह तात्समिकता कहीं भी अटपटेपन की हद तक नहीं जाती। इसके अलावा उनकी आलोचना का वह अंश जहाँ बातें संकल्पनाओं में नहीं बल्कि सामान्य व्याख्या या तथ्यकथन की हैं वहाँ अधिकांशतः हिंदी के अपने तद्भव प्रयोग ही बहुतायत से मिलते हैं। **हिंदी बनाम उर्दू की लड़ाई में हिंदी के हामी शुक्लजी कहीं से भी भाषायी कट्टरता या शुद्धतावाद से ग्रस्त नहीं थे। हिंदी भाषा का जो आमफ़हम रूप धर्म-जाति से परे हिंदी की आम शिक्षित जनता के बीच विकसित हुआ था, सामान्यतः अपनी भाषा का आदर्श उन्होंने वही रखा है**। इसलिए अरबी-फारसी के लोकप्रचलित शब्द स्वाभाविक रूप से उनकी भाषा में आते हैं।

अपनी व्यावहारिक आलोचना में रचना या विषय के प्रति पूर्व-निर्धारित आग्रह या तथ्य को पैगम्बरी शैली में कहने के बजाय आचार्य शुक्ल की आलोचना-भाषा तर्क और सुझाव की शैली पर चलती है जो इस विधा की भाषा की अनिवार्य विशिष्टता है। आचार्य शुक्ल की आलोचना में सूक्तियाँ बहुतायत से मिलती हैं जिनमें सूत्र रूप में साहित्य या जीवन से संबंधित कोई ज्ञान मौजूद होता है, लेकिन वह आलोचना की प्रक्रिया से प्राप्त निष्कर्ष के बाद प्रस्तुत होते हैं, प्रस्थान-बिंदु की तरह नहीं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

"वस्तु प्रत्यक्षीकरण के संबंध में यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि वह काव्य का साध्य नहीं है। यदि वह साध्य या चरम लक्ष्य होता तो किसी कुर्सी या गाड़ी का सूक्ष्म वर्णन भी काव्य कहला सकता। पर काव्य में तो उन्हीं वस्तुओं का वर्णन प्रयोजनीय होता है जो विभाव के अंतर्गत होती हैं अथवा उनसे संबंद्ध होती हैं। अतः काव्य एक 'अनुकरण कला है' यूनान के इस पुराने वाक्य को बहुत दूर तक ठीक न समझना चाहिए। कवि और चित्रकार का साध्य एक ही नहीं है। जो चित्रकार का साध्य है वह कवि का साधन है। पर इसमें संदेह नहीं कि वह साधन सबसे आवश्यक और प्रधान है। इसके बिना काव्य का स्वरूप खड़ा नहीं हो सकता।"[15]

इस निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए कि वस्तु प्रत्यक्षीकरण काव्य का साध्य नहीं है, शुक्लजी ने सूरदास, जायसी, केशवदास, तुलसीदास, महाराज रघुराजसिंह के काव्यों से प्रमाण लेकर उनकी व्याख्या और विश्लेषण की लम्बी प्रक्रिया से गुजरते हैं। यह प्रक्रिया ही शुक्लजी के निष्कर्षों और सूक्तियों की सूत्रात्मक शैली में विश्वसनीयता उत्पन्न करती है।

शुक्लोत्तर आलोचक एक स्वर में मानते हैं कि शुक्लजी की आलोचना-भाषा ने हिंदी आलोचना को आलोचना का एक सुसंगत ढाँचा, आलोचना के उपयुक्त वैज्ञानिक-वस्तुनिष्ठ दृष्टि ही नहीं दी बल्कि आलोचना की सुदृढ़ भाषा भी दी। उनकी आलोचना-भाषा के इस महत्व को रेखांकित करते हुए नामवर सिंह लिखते हैं- "बड़ी भारी विडम्बना यह है कि हम शुक्लजी की साहित्यिक मान्यताओं से उलझने के दौरान आलोचना की उस भाषा को भूल जाते हैं जिसका निर्माण आचार्य शुक्ल ने किया और जिसकी सुदृढ़ और समृद्ध पीठिका पर आज हिंदी आलोचना की भाषा खड़ी है। काव्यभाषा के निर्माण में जो महत्व छायावादी कवियों का है द्विवेदी युगीन कवियों की खड़ी बोली के सम्मुख, उससे किसी तरह कम महत्व आलोचना की भाषा के निर्माण में

आचार्य शुक्ल का नहीं। आचार्य शुक्ल की इस भाषा की विशेषता यह है कि एक ओर यदि वह महावीरप्रसाद द्विवेदी की सपाट भाषा से अधिक गम्भीर, प्रौढ़ और विचारक्षम है तो दूसरी ओर नंददुलारे वाजपेयी से अधिक सुनिश्चित और वागाडम्बर-मुक्त है। **यह हिंदी आलोचना का सौभाग्य है कि उसे उदयकाल में ही ऐसी समर्थ, व्यंजक और सर्जनात्मक भाषा मिल गई—यथातथ्यता में क्लासिकी और बोधगम्यता में लोक-सामान्य** !"[16]

रामस्वरूप चतुर्वेदी ने शुक्लजी की आलोचना-भाषा का अन्य आलोचकों की तुलना में अधिक विस्तार से विवेचन करते हुए लिखा है- "आलोचना-भाषा के सामान्य विधान में आचार्य शुक्ल की सावधानी समर्थ कवियों की काव्यभाषा का स्मरण दिलाती है। एक अच्छा उदाहरण मिलता है, जहाँ उन्होंने 'जनता' और 'लोक' शब्दों के बीच विवेक किया है। 'जनता' शब्द के अंतर्गत समाज के ऊँचे-नीचे विविध वर्ग सिमट आते हैं, 'लोक' से समाज के पिछड़े वर्ग का बोध अधिक होता है। साहित्य की रचना-प्रक्रिया का इतिहास में विवेचन करते समय वे 'जनता' का योगदान रेखांकित करते हैं, पर उसके प्रयोजन-स्वरूप 'लोक' को सामने रखते हैं। इतिहास के प्रवाह की व्याख्या में पाँच पदों से बनी लंबी संयुक्त क्रिया 'परिवर्तन होता चला जाता है' आलोचना-भाषा में सावधान प्रयोग का एक और अच्छा प्रमाण है।"[17]

इसी तरह शुक्लजी की आलोचना-भाषा के नाद-सौंदर्य का उदाहरण देते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं-

"काव्य में नाद-सौंदर्य का महत्व स्पष्ट करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है, 'नाद सौंदर्य से कविता की आयु बढ़ती है।' यह वाक्य कविता के वैशिष्ट्य की व्याख्या करते हुए स्वयं आलोचना-भाषा में नाद-सौंदर्य का एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है। वाक्य में शब्दों

का चुनाव, आरोह-अवरोह का क्रम और एक साँस में वाक्य पूरा हो जाने की स्थिति, ये सारे तत्व मिलकर इस ऊपर से सरल दिखने वाली उक्ति को एक गहरी अनुभूति में बदल देते हैं। 'कविता की आयु' का लाक्षणिक प्रयोग भी इस प्रक्रिया में सहायक हुआ है। इस प्रकार रचना के अर्थ-संश्लेष की व्याख्या करते समय आचार्य शुक्ल कई बार ऐसे प्रयोग करते हैं जिन्हें हम आलोचना-बिम्ब कह सकते हैं।"[18]

आलोचना में बिम्ब-विधान का एक उदाहरण वे आचार्य शुक्ल के एक वाक्य- 'वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है' के उदाहरण से देते हुए कहते हैं- "किशोर-पाठ से लेकर विश्वविद्यालय और जीवन के खुले विश्वविद्यालय तक यह वाक्य अपने बिम्ब-विधान के कारण अनेक स्तरों पर खुलता है।"[19] आचार्य शुक्ल की आलोचना-भाषा के विश्लेषण के बाद सार-रूप में उसकी विशेषताओं को गिनाते हुए वे लिखते हैं- "सावधान शब्द-प्रयोग, नाद-सौंदर्य और बिंब-विधान—साधारणतः काव्यभाषा के ये गुण रामचंद्र शुक्ल की आलोचना-भाषा में पाए जाते हैं। सामान्य आलोचक अपनी प्रभाववादी शैली में कविता की व्याख्या करने का अपर्याप्त यत्न करते रहे, जबकि आचार्य शुक्ल ने अपनी आलोचना-भाषा में काव्यभाषा के महत्वपूर्ण तत्वों का समर्थ प्रयोग करके रचना के अर्थ को अधिकाधिक संवर्धित किया है। और उनकी इस भाषा के कारण ही यह संभव हुआ कि आलोचक ने बार-बार बड़े कवियों की रचना में जैसे आत्म-प्रक्षेप किया हो।"[20] 'आत्म-प्रक्षेप' का अर्थ यह हुआ कि तुलसीदास को पढ़ते हुए आचार्य शुक्ल द्वारा की गई उनकी समीक्षा अब उस पाठ का सहज अंग हो गई है। रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार ऐसा होने में उनकी आलोचना-भाषा की गहरी अर्थव्यंजकता और नाद-सौंदर्य की महत्वपूर्ण भूमिका है।

इस तरह हम पाते हैं कि रामचंद्र शुक्ल की आलोचना-भाषा में वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता के साथ ही काव्यात्मक सृजनात्मकता का संतुलन मिलता है।

4.2 हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना-भाषा

हजारीप्रसाद द्विवेदी साहित्यिक समीक्षा या आलोचना को शुद्ध तार्किक या निस्संग बुद्धि से होने वैज्ञानिक विवेचन का क्षेत्र नहीं मानते बल्कि आसक्त-चित्त सौन्दर्य-मर्मज्ञ का कार्य-क्षेत्र मानते हैं।[21] हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना को डॉ. नगेंद्र ने सृजनात्मक आलोचना कहा है क्योंकि इनकी आलोचना के विवेचन कर्म में चिंता, कल्पना और भावुकता तीनों का योग रहता है।[22] 'कालिदास की लालित्य योजना' पर विचार करते हुए द्विवेदी जी ने अपनी आलोचना संबंधी धारणा और आदर्श के संकेत भी स्थान-स्थान पर दिए हैं , जिनकी चर्चा द्विवेदी जी की आलोचना-भाषा के स्वरूप को समझने के लिए आवश्यक है।

'कृती' और 'तत्त्वान्वेषी' के विषय में कालिदास के मत की चर्चा करते हुए हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं- "वस्तुतः उनकी (कालिदास की) दृष्टि में सौंदर्य के मर्मज्ञ दो श्रेणी के होते हैं। एक को उन्होंने तत्त्वान्वेषी कहा है और दूसरे को कृती। 'तत्त्वान्वेषी पाठक उनके काव्य में इतिहास खोजता है, भूगोल खोजता है, अलंकार खोजता है. छंद और पद-लालित्य खोजता है और इसी प्रकार की न जाने कितनी सारी बातें ढूँढ़ता फिरता है। परंतु जो लोग 'कृती' हैं वे सीधे रस तक पहुँचते हैं और उसमें डूब जाते हैं। वे छककर सौंदर्य का पान करते हैं, बेकार बातों के चक्कर में वे नहीं पड़ते। कथित दोनों में कालिदास 'कृती' को अधिक पसंद करते जान पड़ते हैं।"[23] कालिदास की तरह द्विवेदी जी भी 'कृती' को ही अधिक पसंद करते हैं और 'कृती' होने का ही अधिक गौरव मानते हैं।

'कृती' आलोचक जब रचना पर विचार करेगा तब उसकी पद्धति 'विद्ध चित्र' बनाने वाले तटस्थ चित्रकार की तरह का नहीं होगा बल्कि 'रस चित्र' बनाने वाले तन्मय कलाकार का होगा। 'कालिदास की लालित्य योजना' में 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में दुष्यंत द्वारा शकुंतला के चित्र बनाने और उससे संतुष्ट न होने की बात पर टिप्पणी करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं- "(चित्र में) शकुंतला का शारीरिक और मानसिक चित्रण बहुत सुंदर हो गया था। पर दुष्यंत का मन उससे संतुष्ट नहीं था।...शकुन्तला बन गयी थी, अच्छी बन गई थी, पर दुष्यंत उस चित्र में नहीं आ पाया था। उत्तम चित्र बनाकर वह भी निपुण कारीगर की मर्यादा पा सका था, पर सहृदय कलाकार उभर नहीं पाया था। उसने रेखाओं से अपना भी कुछ जोड़ना चाहा था, पर जुड़ नहीं पाया था। उसने जोड़ने का प्रयास भी कुछ किया था, पर कहीं कोई त्रुटि रह गई थी।...आलम्बन उभर आया था, आश्रय अस्पष्ट रह गया।"[24] 'विद्ध चित्र' यानी हू-ब-हू चित्रण जिसमें चित्रकार यथासम्भव असम्पृक्त रहकर सफलता पाता है, वह कालिदास की कला का आदर्श नहीं है। ऐसी असम्पृक्ति आलोचना में हजारीप्रसाद द्विवेदी का भी आदर्श नहीं है। **द्विवेदीजी का रचनाकार ही उनका 'कृती' व्यक्तित्व है। अतः उनके आलोचना-कर्म में 'आलम्बन' यानी विषय के निपुण व्याख्या-विश्लेषण के साथ ही 'आश्रय' यानी अपने व्यक्तित्व को भी समाहित करते हैं। आलोचना के प्रति यह भाव उनकी आलोचना-भाषा को 'रस चित्र' की विशेषता प्रदान करता है।**

रस चित्र का अर्थ है ऐसा चित्रण जिसमें कलाकार की अंतर्वेदना की अभिव्यंजना हो। **रस चित्रमयी आलोचना-भाषा हम ऐसी भाषा को कह सकते हैं जिसमें आलोचक के रचना से प्राप्त रस और अपने द्वारा अर्जित समस्त ज्ञानानुभव भी निजता के साथ ध्वनित होते हैं।** 'कुमारसंभवम्' में कालिदास द्वारा पार्वती के रूप-वर्णन

की प्रशंसा करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है- "प्राण ढाल कर कवि ने उनकी बाल्यावस्था से लेकर किशोरावस्था तक मोहक चित्र प्रस्तुत किया है।"[25] 'प्राण ढाल कर' पदबंध का प्रयोग निश्चय ही रस का छककर पान करने वाले अभिभूत, भावुक 'कृती' की भाषा है, तत्त्वान्वेषी की नहीं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना-पद्धति को डॉ. नगेंद्र ने सर्जनात्मक आलोचना कहा है। उनके अनुसार इस प्रकार की आलोचना में विवेचन की जो पद्धति अपनायी जाती है उसमें चिंतन, कल्पना और भावुकता का समावेश रहता है।[26] डॉ. नगेंद्र का कहना है कि ऐसी आलोचना में रचना या विषयवस्तु का तार्किक विश्लेषण नहीं होता लेकिन रचना के मर्म में प्रवेश करने वाली तीक्ष्ण दृष्टि होती है। तार्किक विश्लेषण से अधिक कल्पना और भावुकता का समावेश होने के कारण यह आलोचना दृष्टि अधिक मौलिक तो होती है लेकिन डॉ. नगेंद्र इसकी एक बड़ी कमी भी मानते हैं कि यह आलोचना के विधागत रूप का अतिक्रमण करती है। वे लिखते हैं- "इस आलोचना-पद्धति का प्रमुख दूषण यह है कि वह वस्तु से प्रायः स्वतंत्र हो जाती है और स्वभावतः फॉर्म का तिरस्कार करती है।"[27] हजारीप्रसाद द्विवेदी के आलोचनात्मक निष्कर्षों से अधिक उनकी आलोचना-भाषा, जो आलोचना के 'फॉर्म' का तिरस्कार करती है, के कारण कई आलोचक उनको आलोचक से अधिक निबंधकार या साहित्य का पंडित मानना पसंद करते हैं।

हालांकि 'दूसरी परम्परा की खोज' में हजारीप्रसाद द्विवेदी के आलोचक रूप का विवेचन करते हुए नामवर सिंह ने उनकी आलोचना-भाषा के विषय में महत्वपूर्ण सूत्र दिए हैं, जो डॉ. नगेंद्र की तरह 'फॉर्म का तिरस्कार' नहीं बल्कि एक अलग आलोचना-रूप है। साहित्य पर बात करते हुए साहित्य की रचना करने के हजारीप्रसाद द्विवेदी के हुनर पर नामवर सिंह की टिप्पणी है-

"वे (हजारीप्रसाद द्विवेदी) साहित्य के बारे में बात करते हुए साहित्य की रचना करते हैं। उनके हाथों शास्त्र भी साहित्य बन जाता है और समीक्षा भी सर्जना। इस प्रक्रिया में भी उनका फक्कड़ रूप प्रकट हो जाता है। किसी छंद के साथ वे इस तरह खेलते हैं जैसे अर्थक्रीड़ा में उन्हें मजा मिल रहा हो। यह अर्थक्रीड़ा पंडितों की नजर में उन्हें कभी-कभी गैर-जिम्मेदार भी बना देती है। फिर भी इसकी परवा किए बिना वे उस कृति के साथ खेलना छोड़ नहीं देते इस वृत्ति का सर्वोत्तम रूप 'मेघदूत—एक पुरानी कहानी' में मिलता है। टीका भी कितनी सर्जनात्मक और रोचक हो सकती है, उसका आदर्श है 'मेघदूत—एक पुरानी कहानी।' वस्तुतः यह एक पुनः सृष्टि है—कालिदास के मेघदूत के आधार पर अपने मेघदूत की रचना। प्रकृति में यह 'पुरानी कहानी' भी उनके ऐतिहासिक उपन्यासों से भिन्न नहीं है। इसे सहज ही उपन्यास के रूप में पढ़ा जा सकता है। गप्प मारने की चिर-परिचित कला यहाँ भी सक्रिय है।"[29]

हजारीप्रसाद द्विवेदी की व्यावहारिक आलोचना-शैली उनकी उपन्यास-लेखन की शैली से भिन्न नहीं है। 'गप्प की चिर-परिचित कला' उनकी आलोचना-भाषा में भी प्रकट होती है। आलोचना की भाषा -शैली आलोचक के साहित्य के प्रति का रवैये का परिचायक है तो स्पष्ट है कि हजारीप्रसाद द्विवेदी के लिए साहित्य-चर्चा सामाजिक-सांस्कृतिक कर्म से पहले रचना के प्रति सहृदय पाठक की रचनात्मक प्रतिक्रिया है, जिसे नामवर सिंह ने समीक्षा का सर्जना हो जाना कहा है। हजारीप्रसाद द्विवेदी का आलोचक रूप साहित्य-शिक्षक का रूप नहीं है। नामवर सिंह ने उनकी इस विशेषता को भी लक्षित करते हुए लिखा है-

"उपदेशकों से द्विवेदीजी को प्रकृत्या चिढ़ है। उपदेशक वे नहीं है, फिर भी उपदेश देते हैं। दूसरे अलोचकों की तरह आदेश, निर्देश, भर्त्सना आदि का तो उनके यहाँ नितांत अभाव है। वस्तुतः काव्य-चर्चा उनके लिए जीवन महोत्सव है। वे काव्य-चर्चा नहीं करते, उत्सव

मनाते हैं । मुक्त, अकुंठ । एक-एक शब्द की चीड़-फाड़ नहीं करते, सार्थक शब्द को निकालकर ऐसी जगह रख देते हैं कि अर्थ अपने आप जगमगा उठता है। शब्द की व्याख्या नहीं करते, उसे उपयुक्त संदर्भ देते हैं। यह संदर्भ ही उनका अपना सृजन है।"[29] हजारीप्रसाद द्विवेदी स्वयं भी रवींद्रनाथ ठाकुर की रचनाओं की समीक्षा के प्रसंग में यह कहते हैं कि जिस तरह फूल की पंखुड़ियाँ नोच कर फूल के सौंदर्य का विश्लेषण नहीं होना चाहिए उसी तरह साहित्य की चीड़-फाड़ के द्वारा उसका विश्लेषण उन्हें नहीं भाता। आलोचना के प्रति यह दृष्टिकोण उनकी आलोचना-भाषा को भी आकार देता है।

द्विवेदीजी की आलोचना से इस अंश को देखें- "सौंदर्य केवल चाक्षुष विषय नहीं है। उसकी स्वीकृति चेतना के विभिन्न स्तरों पर अपेक्षित होती है। सब बात वाणी से ही नहीं कही जाती। पर जो भी तत्त्व कुछ अर्थ प्रकट करे उसे 'वाक्' या 'वचन' कहा जा सकता है। वाक् या वचन वह है जो अर्थ को सूचित करे। मालविका ने भाव-मनोहर नृत्य किया था। उसके अंगों के संचालन से गीत का अर्थ स्पष्ट हुआ था। कालिदास ने इस अंगों को 'अंतर्निहित वचन' कहा है। जो बोलते तो नहीं, पर सारे अर्थ सूचित कर देते हैं, वचन जिनमें भीतर-ही-भीतर छिपा हुआ है। जो कुछ अभिव्यक्ति का माध्यम है वह वाक् है और जो भी इससे प्रकाश्य है वह अर्थ है। वाक् और अर्थ अभिव्यक्ति के माध्यम और विषय हैं। संसार में जो कुछ दिख रहा है वह कुछ-न-कुछ अभिव्यक्त करता है। यह सारा संसार ही यहाँ देवता का रचित काव्य है। वैदिक ऋषि ने कहा था, 'पश्य देवस्थ काव्यं न विभेति न ऋष्यति'। सो वाक् का प्रयोग बड़े विस्तृत अर्थ में किया गया है।"[30] इस अंश में (और अधिकांश अंश ऐसे हैं) सौंदर्य, चेतना, वाणी, वाक्, अर्थ की प्रकृति या उनकी अवधारणा का विश्लेषण है लेकिन इसकी भंगिमा वस्तुकेंद्रित है, ज्ञान पर केंद्रित है; व्यक्ति पर, व्यक्ति से सहमति-असमति की वाद-विवाद शैली नहीं है। नामवर सिंह ने ठीक ही कहा है कि

आदेश-निर्देश आदि के स्वर का द्विवेदीजी की आलोचना-भाषा में सर्वथा अभाव है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना-भाषा में मुग्ध पाठक या कृति के रसपान से छके 'कृती' की भाव-विह्वल शैली के दर्शन भले होते हों, लेकिन शब्द-प्रयोग के प्रति प्रखर-दृष्टिसम्पन्न आलोचक की सतर्कता और विवेक की कमी उनमें नहीं है। उनके इस भाषा-विवेक को स्पष्ट करते हुए नामवर सिंह ने लिखा है- "द्विवेदी जी साहित्य चर्चा के प्रसंग में अपनी ओर से साहित्य के 'रस' और 'रसास्वादन' का प्रश्न न उठाकर 'साहित्य का मर्म' की बात करते हैं। 'रस' और 'रसास्वादन' से उपभोग की व्यंजना होती है और द्विवेदीजी हरचंद इस अवधारणा से बचे रहना चाहते हैं। साहित्यशास्त्र पर उन्होंने अपने समकालीन पंडितों की तुलना में कम ही लिखा है। लेकिन जब भी अवसर आया है, उन्होंने भरसक संस्कृत की शब्दावली से परहेज ही किया है। एक पुस्तक है 'साहित्य का साथी' जिसे आगे चलकर 'साहित्य का सहचर' नाम से प्रकाशित किया। एक तरह से यह 'साथी' या सहचर' पुराने सहृदय का ही सगोतिया है; फिर भी द्विवेदीजी ने 'साथी' को चुना, जो निश्चय ही केवल शब्दभेद नहीं है। दूसरी पुस्तिका है 'साहित्य का मर्म', जिसमें जानबूझकर 'साहित्य और आत्मा' शब्द से बचा गया है। यह वही 'आत्मा' है जिस पर संस्कृत में शताब्दियों बहस होती रही। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'आत्मा' के साथ एक निश्चित आध्यात्मिक अनुषंग जुड़ा है, बल्कि वह आध्यात्मिक चिंतन प्रणाली की ही एक अवधारणा है। जिनका अभीष्ट साहित्य में मानव-सत्य की प्रतिष्ठा है, वे द्विवेदीजी भला इस आध्यात्मिक अवधारणा को स्वीकार कर अपनी बात कैसे कह सकते थे! स्पष्टतः 'साहित्य का मर्म' का यही रहस्य है।"[31]

हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना-भाषा के संदर्भ में एक बात ध्यान देने की है कि प्राचीन साहित्य के विषय में जितना डूबकर वे लिखते हैं, उतना आधुनिक साहित्य और आधुनिक विधाओं पर नहीं। **रुचि की इस भिन्नता से दोनों पर लिखने की भाषा में भी भेद हो जाता है। कालिदास पर लिखते हुए द्विवेदीजी की भाषा जितनी सहज और प्रवाहपूर्ण होती है, रेणु के उपन्यास पर लिखते हुए वह भाषा अटकती हुई और बोझिल महसूस होती है**। कालिदास की कृति की समीक्षा करते हुए उनकी भाषा ऐसी है-

"कुमारसम्भव' में कवि ने अपने जीवन-दर्शन को बहुत बड़ी पट-भूमिका पर रखकर व्यक्त करने का प्रयास किया है। त्याग के साथ ऐश्वर्य का और तपस्या के साथ प्रेम का मिलन होने पर ही स्त्री और पुरुष का प्रेम धन्य होता है। कालिदास ने इस महाकाव्य में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि त्याग और भोग के साथ सामंजस्य से ही जीवन चरितार्थ होता है। एकान्त वैराग्य आसुरी शक्ति का दमन नहीं कर सकता। जो प्रेम केवल शारीरिक आकर्षण पर निर्भर होता है, वह क्षणस्थायी होता है। जबतक वह तपस्या की अग्नि मे पलकर नहीं निकलता तब तक वह वन्ध्य है, निष्फल है। पार्वती का जीवन तपस्या और प्रेम का सामंजस्य है, शिव का भोग और वैराग्य का। कामदेव जड़ शारीरिक विषयों के आकर्षण का अधिदेवता है। सच्चा प्रेम और गहराई में पलता है।"[32]

वहीं 'कथाकार रेणु का विलक्षण वैशिष्ट्य' बताते हुए लिखते वे लिखते हैं-

"जीवन के साथ गाढ़ नैकट्य यथार्थ पक्ष को गुरुता प्रदान करता है, जबकि उसको देखने की मर्मोद्घाटिनी अंतर्दृष्टि कथाकार की सौंदर्यबोधिनी शक्ति को उजागर करती है। केवल जीवन का गाढ़ परिचय पाठक की उत्सुकता और जिज्ञासा को संतुष्ट कर सकता है, पर मनुष्य के उपरले आवरण के अंतराल में विद्यमान ऐक्य की अनुभूति की द्वारा संवेदना

उत्पन्न कराने की क्षमता अंतर्दृष्टि के बिना संभव नहीं है। रेणुजी का जनजीवन के प्रति गाढ़ नैकट्य तो था ही—मैला आँचल में वह बहुत उभरकर सामने आया है, पर साथ ही उन्हें अत्यंत मर्मभेदी दृष्टि भी प्राप्त है। यद्यपि तुलना करने पर जीवन का नैकट्य अधिक सशक्त है, अंतर्दृष्टि कम; पर 'मैला आँचल' को केवल कुतूहल-शामकता से ऊपर-उठाकर साहित्यिक गरिमा देने में वह अवश्यक सहायक है। जीवन के साथ गाढ़ नैकट्य को यह अंतर्दृष्टि—जो अपेक्षाकृत कम सशक्त है—औपन्यासिक सौषम्य के निकट पहुँचा देने में समर्थ है। लेकिन उपन्यास का यथार्थ केवल जीवन के साथ गाढ़ नैकट्य से ही पूरा नहीं होता। रेणुजी का यह पक्ष बहुत प्रबल तो है, परन्तु वही अकेला सही यथार्थ नहीं हो सकता। यह भी होना चाहिए कि उस गहराई के साथ निरीक्षण करने की परिधि के लिए काफी विस्तृत क्षेत्र मिले। इस विषय में 'मैला आँचल' मुझे बहुत कमजोर जान पड़ा था। जो बात इस संकीर्णता की क्षतिपूर्ति करती है वह है निरीक्षित दृष्ट और अनुभूत तथ्य और घटना-प्रवाह के व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के साथ टकराव से उद्भूत प्रतिक्रियाओं की सही पकड़। इस सही पकड़ से जीवन का विलक्षण अंतर्ग्रथन और परस्पर-सापेक्षिता यथार्थ को सुन्दर और मनोरम बना देते हैं। निरीक्षण की परिधि की संकीर्णता भी जीवन के अंतर्ग्रथन के बोध से मनोरम होकर पाठक को प्रभावित करती है।"[33]

आलोचना भाषा के उपर्युक्त दोनों नमूनों को देखें तो पहले में वाक्य सीधे, सरल, छोटे और शब्द तत्सम हैं पर क्लिष्ट और सामासिक नहीं। एक वाक्य से दूसरे वाक्य तक पहुँचने में अर्थग्रहण के लिए अतिरिक्त ठहराव की जरूरत नहीं पड़ती, आशय समझने के लिए पाठक के माथे पर बल नहीं पड़ते। गद्य पूर्णतः पारदर्शी है और अपने उद्देश्य में सफल है। दूसरे उद्धरण में शब्दावली अनावश्यक क्लिष्ट है। वाक्य सरल नहीं हैं, कई किंतु-परंतु और पेंचों के कारण संरचना में मिश्र और संयुक्त वाक्य अर्थग्रहण में बाधक बन रहे हैं और

ऐसा आभास दे रहे हैं जैसे लिखने वाले की दृष्टि अपने कथ्य को लेकर स्पष्ट नहीं है। एक आधुनिक विधा पर लिखने के लिए ऐसी भाषा की सार्थकता संदेहास्पद है। साथ ही, 'चीड़-फाड़ न करने' की प्रवृत्ति और दो-टूक निर्णय न देने के स्वभाव के कारण भी भाषा-शैली में उलझाव है।

दोनों उद्धरण एक ही आलोचक के हैं, इससे यह तो स्पष्ट है कि आलोचक सीधा, स्पष्ट, अर्थगर्भित आलोचनात्मक गद्य लिख सकने का कौशल रखता है। फिर भी यह कौशल दूसरे उद्धरण में नज़र नहीं आ रहा है तो इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि **आलोचना की भाषा केवल लेखन-कौशल से ही नहीं, आलोचक की अपनी रुचि, विषयवस्तु से उसके संबंध और विधा की समझ के स्तर से भी बहुत हद तक प्रभावित और तय होती है**। परंतु हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना-भाषा का मूल स्वभाव पहले प्रकार के गद्य का ही है। उन्होंने चाव से प्राचीन साहित्य और परिदृश्य पर लिखा है और उनकी आलोचना और आलोचना-भाषा के श्रेष्ठ रूप का उदाहरण वहीं मिलता है।

द्विवेदीजी का मानना है कि "लाखों वर्गमील में फैले हुए हजारों वर्ष के वृद्ध इस भारतवर्ष की साहित्यिक साधना इतनी विराट, इतनी जटिल और इतनी गम्भीर है कि उसकी प्राचीन और नवीन चिंताओं पर संक्षेप में फैसला सुना देना हिमाकत भर है"[34], ऐसा मानने वाले द्विवेदी जी अपनी आलोचना में वृद्ध भारतवर्ष की साहित्य-साधना को सहृदय की तरह आत्मसात करने वाले आलोचक हैं, उस पर दो-टूक फैसला सुनाने वाले निर्णायक नहीं। आलोचना और रचना के प्रति यह संश्लिष्ट दृष्टिकोण हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना-भाषा को आलोचना विधा की सामान्य भाषा से अलग रूप प्रदान करता है, उनकी समीक्षा को रचना बनाता है।

4.3 रामविलास शर्मा की आलोचना-भाषा

रामविलास शर्मा आलोचना का उद्देश्य केवल रचनात्मक साहित्य की समीक्षा नहीं मानते। आलोचना को वे देश व समाज के सांस्कृतिक निर्माण का एक माध्यम मानते हैं। रामविलास शर्मा के लिए सार्थक आलोचना सांस्कृतिक आंदोलन का महत्वपूर्ण अंग होती है। इस बात का प्रमाण यह है कि वे आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना को नये भारत के सांस्कृतिक आंदोलन का अंग मानते हैं और इसलिए बहुत सार्थक भी मानते हैं। वे लिखते हैं- "उनकी (शुक्लजी की) आलोचना सामंती संस्कृति के प्रेमियों के लिए ललकार है। वह जनता का पक्ष लेकर एक नयी संस्कृति के लिए लड़ने वाली आलोचना है। साहित्य में तटस्थता, जनता के प्रति उदासीनता, शुद्ध कला और शुद्ध कला के हामियों को शुक्लजी का यह लड़ाकू रूप पसंद नहीं। लेकिन इसीलिए वह हमारे साहित्यिक विकास के लिए इतना महत्वपूर्ण है।"[35] स्पष्ट है कि शर्माजी आलोचना का जनपक्षधर होना और नयी जनवादी संस्कृति के लिए उसका मुखर होना महत्वपूर्ण मानते हैं।

'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' की भूमिका में अपने आलोचनात्मक लेखन के विषय में रामविलास शर्मा लिखते हैं- "लेखक के लिए मूल समस्या यह है कि हम अपने साहित्य की जातीय विशेषताओं की रक्षा करते हुए किस तरह उन्हें विकसित करें कि हमारी जनता की चेतना निखरे और वह आज के दुखों और अभावों की दुनिया से निकलकर सुख और स्वाधीनता के प्रकाश में साँस ले सके।"[36] **जनता की चेतना का निखार शर्मा जी के लेखन का मूल लक्ष्य है और उनकी जनता भाषा की कारीगरी में डूब सकने वाली सोफिस्टिकेटेड जनता नहीं है बल्कि दुखों और अभावों में जीने वाली साधारण जनता है।**

लेखन के उद्देश्य व लक्षित पाठक के अनुसार रामविलास शर्मा की आलोचना-भाषा बोलचाल की सामान्य शिक्षित हिंदी भाषा के अधिकाधिक निकट है। आलोचना में यथासम्भव वे भाषा की अभिधा-शक्ति से काम लेते हैं अर्थात उनकी भाषा कहीं भी अपारदर्शी या गझिन नहीं होती। उदाहरण के तौर पर उनका सारा लेखन उद्धृत किया जा सकता है पर निराला की कविताओं के कलापक्ष पर लिखते हुए जैसी सीधी-साफ भाषा का प्रयोग वे करते हैं, उससे यह बात और अधिक प्रमाणित होती है, क्योंकि आलोचना की भाषा सबसे अधिक जटिल हो जाती है कलापक्ष का विश्लेषण करते हुए।

कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

-"आदमी जैसे नक्शा बनाता है, फिर नक्शे के अनुसार मकान बनाता है, वैसे निराला पहले नक्शा बनाते हैं फिर कविता रचते हैं। कोई काम वह हमेशा एक ही ढंग से नहीं करते, यह रचना-पद्धति भी वह छोड़ देते हैं। फिर भी उनकी बहुत-सी कविताओं में उनका नक्शा पहचाना जा सकता है।...प्रत्येक रचना में गति है, विकास है, तर्क की रेखाओं के अनुरूप भाव और मूर्ति विधान की इमारत खड़ी की जाती है।"[37]

-" 'हिंदी के सुमनों के प्रति पत्र' में संवाद की जगह निराला की उक्ति है। बोलने वाले हैं अकेले निराला, सामने सम्बोधित हैं रीतिवादी मित्रों की जगह समकालीन छायावादी कवि। छायावादी कवियों में वह श्रेष्ठ नहीं माने जाते—यह क्षोभ 'हिंदी के सुमनों क प्रति पत्र' में है। गर्व है कि **मैं ही बसंत का अग्रदूत**; अपमान की पीड़ा है कि जो अग्रदूत है, वह **ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत** है। फूल रंगीन हैं; निराला पढ़कर फेंके हुए पत्र के समान हैं। महत्वपूर्ण वस्तु फल है न कि रँगा धागा बाँधे हुए फूल। उस फल के भीतर जो कड़वा, त्यागा हुआ बीज है, वही आलोचक निराला हैं। निराला की अनेक रचनाओं में जीर्ण-शीर्ण पत्रों को उड़ाने की बात है; यहाँ कविता के आरम्भ में वे स्वयं जीर्ण पत्र बनते हैं, फिर रंग-रूप पर

गर्व करने वाले सुमनों को निष्फल, दिखाऊ सौंदर्य वाला, प्रतिभाहीन सिद्ध करते हुए स्वयं कविता के अंत में फल के बीज बन जाते हैं। तर्क योजना रूपक में बँधी है, पत्रों और सुमनों का वैषम्य-प्रदर्शन है। निराला आरम्भ से लेकर कविता के मध्य तक पत्र हैं, फिर सुमन के अंतर को पार कर जाने वाला फल—फल का बीज बनते हैं। सुमन अपनी जगह स्थिर रहते हैं। पत्र और फल की दो भूमिकाएँ निबाहने के कारण तर्कयोजना में थोड़ी शिथिलता आ गई है। कारण यह हो सकता है कि क्षोभ का भाव दब नहीं रहा है। जब वह कहते हैं—ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे, तब पाठक को लगता है, थोड़ी-बहुत तो है, और वह ईर्ष्या विवेक को डिगा देती है।"[38]

उपर्युक्त उद्धरणों में निराला की काव्यकला की विविधता और साथ ही उनकी कविता को खोलने के तरीके को रामविलास शर्मा ने साफ-सरल-पारदर्शी भाषा में प्रस्तुत किया है।

जिस तरह आचार्य रामचंद्र शुक्ल आधुनिक ढंग की समालोचना में सक्षम हो सकने के लिए समालोचक में विस्तृत अध्ययन, तीक्ष्ण पर्यवेक्षण बुद्धि और मर्मग्राहिणी प्रज्ञा का होना आवश्यक मानते हैं, उसी तरह रामविलास शर्मा आलोचक में कुछ गुणों को अपरिहार्य व प्रशंसनीय मानते हैं। भारतेंन्दु युग के प्रसिद्ध निबंधकार बालकृष्ण भट्ट को हिंदी आलोचना का जन्मदाता मानते हुए वे लिखते हैं- "उनकी वास्तविक प्रतिभा एक अध्ययानशील विद्वान और तीक्ष्ण-बुद्धि आलोचक की है। उन्हें आधुनिक आलोचना का जन्मदाता कहना अनुचित न होगा। भारत और यूरुप के साहित्यों की तुलना पहले-पहल उन्होंने ही अपने लेखों में की है। वेदों की कणाद और कपिल के शास्त्रों तथा कालिदास और भवभूति के काव्यों से तुलना करते हुए उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह उनकी विद्वता, विचार-स्वाधीनता तथा शब्द-कृपण शैली का बड़ा अच्छा उदाहरण है।"[39] आलोचक में अध्ययनशीलता, विद्वता, विचार-स्वाधीनता के साथ ही एक और गुण जो आवश्यक है

वह है उसकी 'शब्द-कृपणता'। शब्दों की मितव्ययिता तथा भाषा की कसावट को रामविलास शर्मा कविता का ही नहीं गद्य का भी आवश्यक गुण मानते हैं। उनकी इस मान्यता के अनुरूप ही उनकी आलोचना की भी भाषा है। उनकी भाषा में यथासम्भव वाक्य छोटे होते हैं तो इसका कारण यह है कि बात कहने के लिए वे अधिक शब्द खर्च नहीं करते।

रामविलास शर्मा की व्यावहारिक आलोचना-कृतियों के विषय में 'विट' (wit) शब्द अपने दो प्रमुख अर्थों में सटीक प्रतीत होता है। 'ऑक्सफोर्ड लैंग्वेजेज' के अनुसार विट का एक अर्थ तीक्ष्ण बुद्धि (keen intelligence) है और अन्य प्रमुख अर्थ है हास्य-विनोद पैदा करने के लिए शब्दों तथा विचारों को तीव्रता और मौलिकता के साथ प्रयोग करने की नैसर्गिक क्षमता। **रामविलास शर्मा की आलोचना-भाषा की एक प्रमुख विशेषता उनका यह विट है। यह उनकी आलोचना को अधिक बेधक भी बनाती है और सरस भी।**

भारतेन्दु युग के नाटककारों की समीक्षा करते हुए अपने एक लेख की शुरुआत वे इस प्रकार करते हैं- "जहाँ भारत-दुर्दशा में भारतेन्दु ने देश पर दुख प्रकट किया था, वहाँ कुछ ऐसे आशावादी लोग भी थे, जिन्हें अंग्रेजी शासन में रामराज्य मिल गया था और सुख-ही-सुख दिखाई देता था। अम्बिकादत्त व्यास का 'भारत-सौभाग्य' नाटक इसी प्रकार का है। सौभाग्य से ऐसे नाटक और नाटककार अधिक नहीं थे।"[40] 'भारत-सौभाग्य' से सौभाग्य शब्द को लेकर अगली पंक्ति में उसका व्यंग्यार्थक प्रयोग बहुत रोचक बन पड़ा है। इसी तरह छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत की कविता के कला-पक्ष के उद्घाटन के लिए लिखे लेख की शुरुआत करते हुए लिखते हैं- "प्रगतिशील आलोचकों पर यह दोष लगाया जाता है कि वे कला की उपेक्षा करते हैं और साहित्य को केवल समाज-शास्त्र की कसौटी पर परखने की कोशिश करते हैं। पंतजी जैसे कला-प्रेमी और कुशल शब्द-शिल्पी के साथ

ऐसी गलती करना अक्षम्य अपराध होगा। पंतजी यदि शब्द-शिल्पी नहीं तो कुछ नहीं और उन पर लिखी गई आलोचना अगर उनके शब्द-शिल्प से ही शुरू नहीं होती तो वह आलोचना कहलाने की हकदार नहीं है।"[41] विरोधियों को चित्त करने में रामविलास शर्मा की भाषा इसी तरह 'विटी' हो जाती है। जिस पक्ष का विरोध करना है उसी की भाषा-भंगिमा की पैरोडी कर रामविलास शर्मा अपनी नुकिली भाषा में जवाब देते हैं।

1946 में प्रकाशित लेख 'हिंदी भाषा, साहित्य और फ़िराक़' आलोचना में व्यंग्य के प्रयोग का अन्यतम उदाहरण है। रामविलास शर्मा के हिंदी स्वाभिमान व स्वभाषा-साहित्यप्रेम से उपजा रोष उनकी भाषा और शैली को किस तरह प्रभावित करता है, इस लेख में वह प्रभाव पूरी सांद्रता के साथ उपस्थित है। रघुपति सहाय 'फ़िराक़' की हिंदी साहित्यकारों द्वारा प्रयुक्त भाषा से चिढ़ प्रसिद्ध बात है। अपने लेखों और भाषणों में वे हिंदी के रचनाकारों व विद्वानों-आलोचकों पर भद्रता से परे जाकर भी टिप्पणियाँ किया करते थे। फ़िराक़ द्वारा हिंदी के साहित्यकारों को गँवार कहने पर अपने जवाबी लेख में रामविलास शर्मा चेतावनीपूर्ण लहजे में लिखते हैं- "याद रखिए कि हिंदी के महान कवि, साहित्य-सेवी गँवार नहीं हैं और जो उनको ऐसा कहेगा , उसे मुँहतोड़ उत्तर मिलेगा।"[42] रामविलास शर्मा की भाषा का व्यंग्य अधिक प्रभावशाली इसलिए होता होता है क्योंकि वे एक भी बात बिना प्रमाण के नहीं कहते, और प्रमाण भी एक नहीं, कई-कई उपस्थित करते हैं। 36 पृष्ठों के लम्बे लेख में फ़िराक़ के आक्षेपों को उद्धृत कर उनके जवाब में हिंदी के साहित्यकारों की भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं- "इन उदाहरणों को आँखें फाड़-फाड़कर देखिए और बताइए कि प्रसाद, निराला और पंत ने ही कौन-सा अपराध किया था जो अपनी सारी भलमनसाहत आपने उन्हीं पर उड़ेल दी ! थोड़ी-सी डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद और राहुलजी को भी बाँट दीजिए। आपके सिर का बोझ

हल्का हो जाएगा और तब दबी हुई अक्ल भी शायद आपको यह समझने का मौका दे कि गुस्ताखी और बदतमीजी का नाम समालोचना नहीं है। आप हिंदी कविता की खूब कड़ी आलोचना कीजिए, लेकिन कुछ पढ़-लिख लेने के बाद; उस विद्वता के भरोसे नहीं, जो भूसे के भाव बिक जाए।"[43] हिंदी कवियों के हिंदी ज्ञान पर छींटाकशी करते रहने वाले फ़िराक़ के लेखों से छोटे-बड़े छत्तीस उद्धरण प्रस्तुत कर उनके गलत प्रयोग दिखाकर अंत में वे लिखते हैं- "कहाँ तक गिनाऊँ। हाथ थक गया और शायद आप भी अघा गए होंगे। जब अपने लेख पुस्तक-रूप में प्रकाशित कीजिए , तो इन प्रयोगों को रेखांकित कर दीजिए जिससे हिंदी लिखने वालों को विशेष लाभ हो। इनसे चौगुने अभी मेरे पास और बाकी हैं जो ज़रा भी कम विद्वतापूर्ण नहीं हैं। लेकिन असर होना होगा तो इतने उदाहरणों से ही हो जाएगा। न होना होगा तो दो चार सौ भी कम हैं।"[44] यहाँ रामविलास शर्मा की आलोचना-भाषा पर ध्यान देने से यह समझा जा सकता है कि **भाषा में 'विट' आवेश से पैदा होता है, अपने पक्ष के प्रति विश्वास और अपनी तैयारी के प्रति आत्मविश्वास से पैदा होता है**।

निराला की काव्यभाषा में जिस वक्तृत्व कला के गुण की रामविलास शर्मा प्रशंसा करते हैं, वह स्वयं उनकी आलोचना-भाषा की भी विशेषता है। वक्तृत्व कला या रेटरिक (Rhetoric) श्रोता या पाठक को अपने अनुनय-कौशल द्वारा प्रभावित करके उसकी सोच को खास दिशा में प्रेरित करने की कला है। जे हेनरीक ने अपनी पुस्तक 'थैंक यू फॉर आर्ग्युइंग' में वक्तृत्व कला के पाँच केनन या नियम बताए हैं- इन्वेंशन यानी अपनी बात के पक्ष में तर्क विकसित करने की प्रक्रिया; अरेंजमेंट यानी अधिकाधिक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए तर्कों को खास ढंग से सजाना; स्टाइल यानी तर्कों को प्रस्तुत करने की शैली का निर्धारण; मेमोरी यानी स्मरण में तर्कों और उनके प्रस्तुति की शैली को रखना; डेलिवरी

यानी भाषण के दौरान की शारीरिक भंगिमाएँ, उच्चारण, टोन तथा लय और गति-यति आदि, जिससे तर्क का प्रभाव बढ़े।[45] इन पाँच नियमों में से अंतिम दो तो कुछ हद तक लेखन में जरूरी नहीं हैं लेकिन प्रथम तीन का सफल प्रयोग रामविलास शर्मा के आरम्भिक आलोचनात्मक लेखों में सर्वाधिक मिलता है । रामविलास शर्मा का साहित्यिक आलोचना-कर्म तटस्थ विद्वतापूर्ण साहित्यिक कर्म नहीं है और न ही वे अपनी पक्षधरता को नकारते हैं। उनका आलोचना-कर्म सोद्देश्य है और वे इसमें वे अपनी भावनात्मक सत्ता के साथ प्रवृत्त होते हैं। पाठक की विचारधारा के साथ उसकी भाव-सत्ता को भी प्रभावित करने का उनका स्पष्ट उद्देश्य होता है जो उनकी आलोचना-भाषा तथा आलोचना में रेटरिक के प्रयोग से स्पष्ट है। सन् 1943 के अपने लेख 'काव्य भाषा और युगबोध' में काव्यभाषा को युगानुसार गतिशील मानते हुए, शाश्वतवादी भाषा-चिंतकों के विचारों को काटते हुए, प्रगतिशील कवियों की 'अटपटी' कही जाने वाली भाषा के पक्ष में तर्क देते हुए रामविलास शर्मा लिखते हैं-

"भाषा में अत्यधिक मिठास की खोज सामाजिक ह्रास का चिह्न है । वैसे ही वाक्पटुता, ज़बान का चटखारा, अत्यधिक परिष्कार और बनाव-सिंगार आदि ऐसे गुण हैं जो पतनकालीन साहित्य में मिलते हैं। विद्रोही कवि जो नये भाव-विचार लेकर आया है, उनके लिए शैली भी ढूँढ़ निकालता है। रुढ़िवादी अपने बुढ़िया पुराण पर आक्रमण होते देख उसे भाषा और संस्कृति का शत्रु घोषित करते हैं। हिंदी के पुराने कवियों में भाषा को देव-बिहारी से अधिक किसने सँवारा है, परन्तु साहित्यिक और सामाजिक प्रगति में उनका कौनसा स्थान है ? अंग्रेजी साहित्य में पोप से अधिक भाषा को सभ्य और परिष्कृत किसने बनाया है ? परंतु पोप और उसके साथियों ने ही रोमांटिक कवियों के विद्रोह को अनिवार्य कर दिया और उस रोमांटिक विद्रोह के महत्व को कौन अस्वीकार कर सकता है ?"[46]

पाठक को इतने प्रश्नों से ही विचार करने का अवसर न देकर तुरंत ऐसा दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं जिससे कायल न होना भारतीय बौद्धिक मानस के लिए कठिन है-

"तुलसीदास ने चाहे स्वांतः सुखाय लिखा हो चाहे बहुजनहिताय, इसमें संदेह नहीं कि उन्हें अपने आलोचकों से काफ़ी शंका थी और इस शंका को प्रकट करने के लिए उन्होंने मानस में काफ़ी छंद लिखे हैं-

"हँसिहहिं कूर कुटिल कुबिचारी। जे पर पर दूषन-भूषन धारी॥
निज कबित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका॥
जे परभनित सुनत हरषाहीं। ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं॥"

"ज़बान का चटखारा ढूँढ़ने वाले कहेंगे, चौपाई छंद में आपने "पर-दूषन-भूषन-धारी" इतना बड़ा समास रख दिया है। आप "भाषा" लिख रहे हैं लेकिन शायद विद्वता दिखाने के लिए लम्बे-लम्बे समस्त पद भी रखते जाते हैं। दूसरी पंक्ति अच्छी है, लेकिन तीसरी पंक्ति में "परभनित" क्या बला है। भला कभी कोई परभनित भी कहता है ? वैसा ही "बर पुरुष" का प्रयोग है। अगर कोई कहे, हे बर कवि जी ! आपने रामचरितमानस जैसा बर काव्य लिखकर एक बर कार्य किया है तो आपको कैसा लगेगा ? ऐसे ही आपका "भाषा-भनित" है। "भ" के अनुप्रास पर आप लट्टू हो गये, लेकिन यह भी न देखा कि भाषा-भनित कोई कहता है या नहीं। आपने ठीक लिखा है, "हँसिबे जोग हँसे नहीं खोरी।" आपके इस महाकाव्य में मुश्किल से डेढ़ सौ पंक्तियाँ ऐसी निकलेंगी जो बोलचाल की भाषा में साधारण वाक्य-रचना के नियमों के अनुसार लिखी गई हों। देखिए बोलचाल की भाषा में सफल वाक्य-रचना यों होती है-

"कच समेटि भुज कर उलटि, खरी शीस पट डारि।
काको मन बाँधै न यह, जूरौ बाँधनहारि॥"

क्या दोहा लिखा है जैसे कमान से तीर निकल गया हो। जूड़ा बाँधने और मन बाँधने के "चमत्कृत" प्रयोग पर ज़रा ग़ौर फरमाइए !"[47]

ज़बान का चटखारा ढूँढ़नेवाले या पतनकालीन साहित्य के प्रेमी 'आलोचकों' की भाव-भंगिमा की नकल उतारते हुए शर्मा जी प्रगतिशील कविता की भाषा पर आक्षेप करने वाले आलोचकों की समझ पर व्यंग्य करते हैं। फिर स्वयं आलोचक की गम्भीर मुद्रा में आकर अपनी बात कहते हैं- "तुलसीदास और बिहारी दोनों ही अपनी-अपनी भाषा-शैलियों के सफल कवि हैं। उन शैलियों में उनसे अधिक किसी दूसरे को सफलता मिली ही नहीं। बिहारी के दोहों की भाषा मानस की भाषा की अपेक्षा बोलचाल की भाषा के अधिक निकट है। दोनों को मिलाकर देखने से स्पष्ट हो जाएगा कि तुलसीदास ने अधिकतर अपनी भाषा गढ़ी है और उनकी पद-रचना गद्य की भाषा के बहुत कुछ प्रतिकूल है, फिर भी भारतीय जनता को जितना उनके "अटपटे बैन प्रिय हैं, उतना "जूरौ बाँधनहारि" पर फ़िदा हो जाने वाले कवि के नहीं। **इन दोनों कवियों के भाषा-सम्बन्धी भेद का कारण उनकी संस्कृति और विचारधारा का भेद है**। वही भेद जिसे हम Romanticism और Neo-classicism के शब्दों द्वारा व्यक्त करते हैं।"[48] इस तरह रामविलास शर्मा काव्यभाषा जैसे तकनीकी शास्त्रीय विषय को अपनी रोचक वक्तृत्व शैली से सहज सम्प्रेषणीय बना देते हैं जिससे उनके गम्भीर निष्कर्ष बिना बोझिल हुए स्पष्ट हो जाते हैं। प्रगतिशील कविता की भाषा के पक्ष में 'भाषा के बनाव-सिंगार' के विरुद्ध नये भावों के अनुरूप नयी भाषा गढ़ने की प्रक्रिया को विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया सिद्ध करने के लिए अतीत के सशक्त कवियों और काव्यांदोलनों से मजबूत तर्क या आर्ग्युमेंट का 'इन्वेंशन' करते हैं; पाठक पर तर्कों के अधिकाधिक प्रभाव के लिए उनका 'अरेंजमेंट' विचारोत्तेजक प्रश्न-चुभते व्यंग्य-गम्भीर निष्कर्ष के पैटर्न पर करते हैं; स्टाइल या शैली तर्कों के अनुरूप ओजपूर्ण, हास्य की

छटा बिखेरती और गम्भीर है। अपने जिन लेखों में वक्तृत्व शैली का यह संतुलन वे साध लेते हैं, उन लेखों में विषय की प्रभविष्णुता बढ़ जाती है। लेकिन रामविलास शर्मा के यहाँ ऐसे भी उदाहरण है जहाँ उनकी भाषा की तल्खी उनके तर्कों पर हावी हो जाती है और लेख किसी बात को सिद्ध करने की जगह व्यक्ति-विशेष का उपहास उड़ाते अधिक जान पड़ते हैं। 'गतिरुद्ध छायावाद का शब्दशिल्प' ऐसा ही लेख है।

व्यंग्य या विट के अलावा रामविलास शर्मा की आलोचना-भाषा में 'पर्सुएशन' के लिए भावनात्मक अपील का भी सफल प्रयोग मिलता है। 'भारतेन्दु युग और जन-साहित्य' पर वे लिखते हैं- "आज हमारे सामने बहुत-कुछ वही समस्याएँ फिर आ गयी हैं, जो भारतेन्दु युग के लेखकों के सामने थीं। तब के लेखकों ने उन समस्याओं को सुलझाया था, उस समय की परिस्थितियों का संगठित रूप से सामना किया था और उस संघर्ष में उन्हें सफलता मिली थी। आज की समस्याओं को हम भी अपने ढंग से सुलझा रहे हैं परंतु बहुत-कुछ असंगठित रूप में; विजय-कामना जितनी बलवती है, उतनी निःस्वार्थ सेवा और विजय-कामना नहीं है। भारतेन्दु युग को हिंदी का शैशव-काल कहकर हम नहीं टाल सकते, उसकी जिंदादिली की थोड़ी-सी प्रशंसा करके उसका मूल्य नहीं आँका जा सकता। सब भाइयों को बुलाकर भारत के लिए रोने के सिवा भी उस युग में बहुत-कुछ है। वास्तव में ऐसा सजीव और चेतन युग हिंदी में एक ही बार आया है। उस युग के तपस्वियों को जो सफलता मिली वह तो बड़ी है ही, उससे भी बड़ी उनकी साधना है जो अगली पीढ़ियों को बराबर उत्साहित करती रहेगी।"[49] भारतीय समाज 'निःस्वार्थ सेवा', 'तपस्वियों', 'साधना', 'पीढ़ियों को उत्साहित' करने जैसे शब्दों और पदबंधों से औदात्य का अनुभव करता है, उनका प्रयोग रामविलास शर्मा की आलोचना-भाषा में अनायास मिलता है।

रामविलास शर्मा की आलोचना-भाषा में कथाकारों की-सी किस्सागोई मिलती है। अपने प्रतिपाद्य विषय में पाठक के पूरे मनोनिवेश के लिए वे भारी-भरकम तर्कों से अपनी बात शुरू नहीं करते बल्कि कई बार कहानी सुनाने की शैली में घटना या ब्यौरों का सजीव वर्णन करते हैं, जिसका लक्ष्य पाठक को विषय से भावनात्मक स्तर पर जोड़ देने का होता है। जैसे-

- "भारतेन्दु ने सभी प्रकार से देश की यात्रा की थी; कभी रेल के सेकेंड क्लास डिब्बे में बैठकर तथा कभी रेलगाड़ी में दचके खाकर। बैलगाड़ी की यात्रा में पैर झुनझुनाने से लेकर भूखे रहने तक का अनुभव उन्हें हुआ था।"[50]
- बालकृष्ण भट्ट का 32 वर्ष तक "हिंदी प्रदीप" चलाना ऐतिहासिक घटना है। धुन और लगन का इससे बड़ा उदाहरण हिंदी साहित्य के इतिहास में दूसरा नहीं है। उनके पास कार्तिकप्रसाद खत्री के साधन नहीं थे, न वह भारतेन्दु की भाँति सोने के पालने में झुलाये गये थे जो समाज उन्हें हाथों-हाथ लेता। वह एक साधारण परिवार में उत्पन्न हुए थे और कुछ दिन के लिए प्रयाग के एक कॉलेज में संस्कृत के अध्यापक रहे थे। ...भाई और भाभी के कारण इन्हें अनेक कष्ट सहने पड़े। जन्म से ही यह अनाथ से रहे थे। ...पालन-पोषण उनका ननिहाल में हुआ। वह एक अत्यंत सरल प्रकृति के भावुक व्यक्ति थे। उदारता की उनमें कमी न थी। ऐसे नररत्न संसार में हमेशा ठुकराये जाते हैं। ...ईश्वर ने पितृहीन किया, दुनिया ने ठुकराया परंतु उनमें वह धैर्य था, जो सच्चे हीरे की तरह घन चोट से नहीं टूटता।"[51]

रामविलास शर्मा का लक्ष्य केवल तटस्थ तथ्यकथन करने का होता तो वे यह कह कर संतोष कर सकते थे कि भारतेन्दु ने देश की जनता के संघर्षों का साक्षात्कार किया था या

बालकृष्ण भट्ट का जीवन संघर्षपूर्ण था। लेकिन इतने से पाठक उनकी विचारधारा से सहमत होने के लिए उनकी भावधारा पर शायद ही आ पाता। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने शास्त्र के लिए 'जाति-संकेत-सूचक' शब्दों को उपयुक्त माना है और काव्य या रचनात्मक साहित्य के लिए 'विशेष-व्यापार-सूचक' शब्दों को; क्योंकि शास्त्र का उद्देश्य अमूर्त चिंतन का होता है और रचनात्मक साहित्य का काम कल्पना में चित्र उपस्थित कर पाठक के मन को प्रभावित करना। रामविलास शर्मा आलोचना के लिए बहुधा 'विशेष-व्यापार-सूचक' शब्दों से काम लेते हैं। यह करते हुए उनकी भाषा अपनी सरलता से समझौता नहीं करती और न सरल बने रहने की कोशिश में कहीं भी हल्के ढंग की भावुकता या 'सस्तेपन' का शिकार होती है।

इसके अलावा, गूढ़ पदबंधों के वाग्जाल रचने की जगह शुक्लजी और प्रेमचंद की तरह जनता में प्रचलित मुहावरों का प्रयोग उनकी भाषा में बहुतायत से मिलता है। एक ही वाक्य में एकाधिक मुहावरों का प्रयोग और फिर भी भाषा के प्रवाह में रुकावट या अटपटापन न आना, शर्माजी की भाषा का आम स्वभाव है; जैसे यह वाक्य- "उपाधिधारियों के तो भारतेन्दु पीछे पड़ गए थे और जहाँ कहीं भी अवसर पाते, उनकी खबर लेने से न चूकते थे।"[52] उनकी भाषा में यह विशेषता उनके चिंतन की जनपक्षधरता से आती है।

इसके अलावा शब्दों-पदबंधों से कविसुलभ सार्थक क्रीड़ावृत्ति भी उनकी भाषा में मिलती है। कभी हास्य तो कभी चमत्कार पैदा करने के लिए अनुप्रास का प्रयोग वे अक्सर करते हैं, जैसे- "सरस्वती-साधना से अधिक यह उनकी सामाजिक-साधना का ही परिणाम है।"[53]

रामविलास शर्मा की आलोचना भाषा के दो पहलू हैं। एक तरफ अर्थ की स्पष्टता के प्रति शास्त्रीय आग्रह जो आलोचना विधा के स्वभाव के सर्वथा अनुकूल है; और दूसरी तरफ साहित्य की एक विधा के अनुरोध के अनुसार भाषा का सर्जनात्मक प्रयोग। इस बात को लक्षित करते हुए नामवर सिंह ने शर्मा जी की आलोचना भाषा के विषय में ठीक ही कहा है- "हिंदी में संभवतः सामान्य भाषा में आलोचना लिखने का सफल प्रयास डॉ. रामविलास शर्मा ने किया है जो कभी-कभी अतिसरलीकृत प्रतीत होती हुई भी अपने सर्वोत्तम रूप में आज भी आदर्श है।...**सामान्य भाषा का अर्थ सपाट भाषा नहीं है। मूल प्रश्न है भाषा की व्यंजकता का**।"[54]

4.4 नामवर सिंह की आलोचना-भाषा

डॉ. नामवर सिंह आलोचना में आत्म-सजगता के हामी हैं। वे जितने गौर से कृति को देखते हैं उतने ही गौर से अपने आलोचनात्मक मानदंडों को भी। यह आत्म-सजगता उनकी भाषा को भी प्रभावित करती है। आत्म-सजगता आलोचक को सरलीकरण और अतिरंजना दोनों से बचाती है और भाषा को संवेदनशील और शब्दों के चुनाव को जिम्मेदार और दृष्टिकोण को उदार बनाती है। नामवर सिंह का कहना है- "सच्चे रचनाकार की तरह कृती-आलोचक की भाषा भी व्यक्ति-विशिष्ट होती है, और यह विशिष्टता केवल शब्दावली में ही नहीं, बल्कि कभी-कभी उसके 'स्वर' अथवा 'तेवर' से भी साफ पहचानी जा सकती है।"[55] हिंदी के आलोचकों में सर्वाधिक व्यक्ति-विशिष्ट भाषा नामवर सिंह की ही है। आलोचक के काम को वे कृतिकार के काम से तनिक भी कमतर नहीं मानते। अतः अपनी आलोचना-भाषा को भी उन्होंने उतने ही यत्न से अर्जित और विकसित किया है, जैसे सजग कृतिकार करता है।

आलोचक के रूप में साहित्य में सक्रियता के लंबे दौर की तुलना में नामवर सिंह ने पुस्तकें बहुत कम परिमाण में लिखी हैं, यह बात कभी सकारात्मक तो कभी नकारात्मक स्वर में बार-बार उठाई जाती है। इस विषय में निर्मला जैन की टिप्पणी से नामवर सिंह की आलोचना-भाषा की प्रकृति से जुड़ी महत्वपूर्ण बात समझी जा सकती है। निर्मला जैन लिखती हैं- "न लिखने या काफी न लिखने की शिकायत करने वालों को नामवर सिंह जवाब दे सकते हैं और देते हैं कि वे लिक्खाड़ नहीं हैं। किसी समस्या को लेकर बौद्धिक विवशता या दबाव जब तक नहीं होता, तब तक वे नहीं लिखते।"[56] नामवर सिंह का आलोचनात्मक लेखन शौकिया या छपने की इच्छा का परिणाम नहीं है, बल्कि गम्भीर बौद्धिक और नागरिक जिम्मेदारी के तहत ही वे लिखते हैं। लेखन-कर्म के प्रति यह गम्भीर रवैया स्वभावतः ही उनकी भाषा को गम्भीर लेखक की सुचिंतित भाषा का रूप देता है। निर्मला जैन की बात से मिलती-जुलती बात पंकज चतुर्वेदी लिखते हैं- "सिर्फ 'लिखने' की बात की जाए, तो उन्होंने अपने सुदीर्घ आलोचनात्मक सफ़र के मद्देनज़र ज्यादा नहीं लिखा है। सबब यह कि चीजों को जानने, सोचने-समझने और महसूस करने पर इसरार ज्यादा रहा, उसके बनिस्बत लिखने पर कम।...उनका गद्य पढ़कर यह लगेगा नहीं कि इसे जल्दबाज़ी में एकाएक या यों ही लिखा गया है, उलटे यह मालूम होगा कि इन शब्दों का मूल्य चुकाया गया है।"[57]

नामवर सिंह की आलोचना-भाषा में शब्दों के साथ कवि-सुलभ व्यवहार के उदाहरण आम हैं। जैसे यह वाक्य- "इससे खड़ी बोली की खड़खड़ाहट तो दूर हुई लेकिन उसके साथ उसकी जीवंतता भी चली गई। क्रियापदों के साथ उसकी क्रियाशीलता भी जाती रही।"[58] इस वाक्य का विश्लेषण करें तो हम पाते हैं कि वाक्य में अनुप्रासों का प्रयोग कथन का सौंदर्य तो बढ़ा ही रहा है, साथ ही वाक्य की अर्थक्षमता की भी वृद्धि हो रही है।

नामवर सिंह आलोचना में भाषा के प्रति अतिशय सजग आलोचक हैं, हालांकि उनकी आलोचना-कृति में आम-तौर पर विचार इतने सुगठित होते हैं कि वहाँ भाषा की प्रांजलता सायास नहीं लगती। पर भाषा में एक-एक शब्द या पदबंध का चुनाव सचेत चिंतन का परिणाम है तभी वह अर्थ के कई आयामों का वहन करती है। इसी दिए गए वाक्य में 'खड़ी बोली की खड़खड़ाहट' केवल अनुप्रास के माध्यम से चुटीला हास्य नहीं उत्पन्न कर रहा, खड़ी बोली की अनगढ़ता में सजीवता के लक्षण होने के आलोचक के आशय को भी व्यक्त कर रहा है। 'क्रियापदों के साथ उसकी क्रियाशीलता भी जाती रही' का प्रयोग भी ऐसा ही है, वाक्य में रोचकता के साथ-साथ भाषा में क्रिया की महत्वपूर्ण भूमिका मानने संबंधी आलोचक के विचार भी प्रकट हो रहे हैं। यही कारण है कि आलोचना की भाषा में काव्यभाषा जैसी विशेषताएँ होने पर भी आलोचना अपने कर्म से डिगती नहीं, और आलोचना-भाषा की अपनी प्रयोजनीयता अक्षुण्ण रहती है। हिंदी आलोचना में भाषा के साथ काव्यात्मक व्यवहार के बावजूद आलोचना के साथ अन्याय न करने वाले ऐसे आलोचक कम ही हैं।

उपरोक्त संदर्भ में पंकज चतुर्वेदी का नामवर सिंह की आलोचना-भाषा पर यह कथन महत्वपूर्ण है- "गद्य का भी एक शिल्प होता है। किसी भी लेख या निबंध की अपनी सौंदर्यात्मक संरचना तो होती ही है, उसका प्रत्येक वाक्य अपने लिए स्वतंत्र शिल्प की माँग करता है जिसे मनोजगत में हासिल किर बगैर लिखा नहीं जा सकता। इसलिए अच्छा गद्य लिख पाना सबके वश की बात नहीं। कविता की ही मानिंद गद्य भी अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में भाषा का यादृच्छिक प्रयोग नहीं, बल्कि ख़ून की रोशनाई में लिखे हुए शब्द हैं। नामवर जी की आलोचना सबसे पहले इसलिए आकृष्ट करती है कि उसमें विचार की गरिमा और संवेदना की सजलता के साथ वह धीरज है, जिसकी बदौलत उसका प्रत्येक शब्द और

विन्यास सुचिंतित है। प्रखर और पारदर्शी। उसके पीछे जिए गए जीवन का बल है। वह यांत्रिक नहीं, जैविक "गद्य" है। रघुवीर सहाय की इन कविता-पंक्तियों की याद दिलाता हुआ: "सुन्दर सुगठित गद्य, सहृदय के हाथों लिखा/ पढ़ते-पढ़ते चित्त, यात्राएँ करने लगा।" नामवर जी के आलोचनात्मक गद्य में जो सुथरापन, रवानी और कशिश है, वह गम्भीर और धैर्यपूर्ण साधना की फलश्रुति है।"[59]

1997 में डॉ. किरण सिंह को दिए एक बेहद लंबे साक्षात्कार में नामवर सिंह ने अपनी आलोचना-भाषा के विषय में अपनी तैयारी और समझ पर प्रकाश डाला है। उनकी 'छायावाद' पुस्तक छायावाद की सामाजिक-सांस्कृतिक व्याख्या-विश्लेषण के साथ हिंदी में आलोचना-भाषा की सर्जनात्मकता या कलात्मकता का भी उत्कृष्ट उदाहरण है। इस पुस्तक को लिखने की प्रक्रिया और उसके पीछे के प्रभाव के विषय में बातें करते हुए उन्होंने कहा है कि यह पुस्तक उनकी प्रिय पुस्तक है जिसे दस-बारह दिनों उन्होंने लिख डाला था। इस पुस्तक को लिखते हुए उन्हें कविता या उपन्यास लिखने जैसे नशे में वे थे और बहुत आनन्द-विभोर थे। जिस दौर में यह किताब लिखी गई उस दौर में 'द स्टारलिट डोम' नामक एक पुस्तक उन्होंने पढ़ी थी जो अंग्रेजी की रोमांटिक कविता पर लिखी गई थी और उसमें नामवर सिंह को सबसे आकर्षक बात यह लगी थी कि 'यह किताब बिलकुल जैसे रोमांटिक कवियों की भाषा में ही लिखी गई थी। कुछ कविताओं के शीर्षक थे।' यह बात नामवर सिंह को दिलचस्प लगी और उन्हें- "**लगा कि कविता की सार्थक आलोचना कविता की भाषा में ही हो सकती है। खास करके रोमांटिक कविता की आलोचना आप संस्कृत काव्यशास्त्र की भाषा में करेंगे तो आप बिलकुल बकरी जिबह करेंगे**। छुरी से आप उसका गला काटेंगे। इसलिए मुझे लगा कि जिस कविता का हम विश्लेषण कर रहे हैं, उस कविता का विश्लेषण हम कविता की भाषा में ही करें तो आलोचना कैसे रहेगी?"[60]

छायावादी कविता की भाषा में कविता की आलोचना लिखने का एक उदाहरण शांतिप्रिय द्विवेदी जैसे आलोचकों ने प्रस्तुत किया था जिसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'प्रभावाभिव्यंजक' समालोचना कहा है और इसे आलोचना के लिए ठीक नहीं माना है। इसलिए नामवर जी का संकल्प यह रहा कि 'छायावादी कविता से भाषा लेते हुए, ऐसी व्याख्या करो कि वह बदनाम प्रभावाभिव्यंजक आलोचना न बने।'[61] इसके साथ ही एक और संकल्प यह था कि 'मार्क्सवाद का इस तरह इस्तेमाल करना कि मार्क्सवादी जार्गन न हो, छायावादी कविता के बिम्बों में निहित जो सामाजिक सच्चाई है और जो यथार्थ है वह खुल के सामने आए।'[62] अपने आलोचना-कर्म के आरम्भ से ही नामवर सिंह अपनी आलोचना-भाषा के प्रति प्रयोगशील रहे हैं। जैसे आचार्य शुक्ल के आलोचकीय भावबोध पर नामवर सिंह उनके समय की प्रमुख काव्य-प्रवृत्ति छायावाद का गहरा प्रभाव मानते हैं, उसी तरह नामवर सिंह की आलोचना में प्रयोगशीलता के संदर्भ को भी समझा जा सकता है। **कविता की आलोचना के लिए स्वयं कविता से ही भंगिमा और बीजशब्द लेना उनकी आलोचना शैली को ही रोचक नहीं बनाता, आलोचक की उस उदार दृष्टि का भी परिचय देता है जिसमें रचना के पूरे प्रभाव को ईमानदारी से समझने और उससे उसकी भाषा में बात करने की समझदारी या संवेदनशीलता है**। केवल छायावादी कविता से ही नामवर सिंह ने इस तरह संवाद नहीं किया है। अन्य कवियों और काव्य-प्रवृत्तियों के लिए उनका यही सिद्धांत रहा है। उदाहरण के लिए शमशेरबहादुर सिंह की कविता पर उनकी यह टिप्पणी देखें-

"यह कोई चिर-परिचित गीत नहीं है। गद्य है। बोलचाल की लय का गद्य। रुक-रुक कर आगे बढ़ता हुआ। विलम्बित। विपर्यस्त। फिर भी कविता।...एकदम ठोस। लेकिन ठस नहीं। कहीं-कहीं शोखी भी। शमशेरियत लिए हुए।"[63]

आलोचना-भाषा में इस शैली के पीछे नामवर सिंह का यह विवेक भी है कि रचना की तरह आलोचना की भाषा भी ऐसी हो जो विचारधारा-विशेष की शब्दावली का अटाला न हो। यह आलोचना की साहित्यिकता के लिए जितना आवश्यक है उतना ही रचना और पाठक समुदाय से निष्पक्ष वार्तालाप के लिए भी। नामवर सिंह ने कहा है- "दूसरी छाया में नहीं बनना चाहता था बल्कि उस छाया में जो जमीन का टुकड़ा था उसको निकालकर रखना चाहता था लेकिन उसमें वर्ग-संघर्ष वगैरह या आर्थिक आधार की शब्दावली का इस्तेमाल नहीं करना चाहता था।...मेरा प्रयोजन था ऐसा अप्लाइड मार्क्सिस्ट क्रिटिसिज्म जिसमें मार्क्सवाद की शब्दावली और जार्गन से बचकर भी आप मार्क्सवादी आलोचना लिखें और दिखाएँ लोगों को कि जैसे अच्छी रचना के लिए जरूरी है कि लेखक के विचार छिपे रहें, मेरे ख्याल में अच्छी आलोचना के लिए भी यह जरूरी है।...व्याख्या इस तरह की जाए कि जो आप कहना चाहते हैं, वह सब लोगों तक पहुँच जाए, बगैर जाने कि स्वयं आलोचक की विचारधारा क्या है।"[64] इस प्रकार काव्यभाषा की सर्जनात्मकता और दर्शन तथा विचारधारा के ठोस आधार के संतुलन से नामवर सिंह की प्रभावशाली आलोचना-भाषा की निर्मिति हुई है।

नामवर सिंह की आलोचना-भाषा में सूक्तियों की बहुतायत देखी जाती है, लेकिन ये सूक्तियाँ सुचिंतित और गहरे अर्थों वाली तो कभी गहरे व्यंग्य करने वाली होती हैं। नामवर सिंह रामचंद्र शुक्ल और रामविलास शर्मा की तरह ही हिंदी के ऐसे बहुपठित आलोचक हैं जिनका अध्ययन न केवल अखिल भारतीय साहित्य-राजनीति-संस्कृति को अपने दायरे में समेटता है बल्कि पाश्चात्य साहित्य-राजनीति-संस्कृति का अध्ययन भी उसी मनोयोग के साथ करते हैं। अध्ययन और चिंतन-मनन से प्राप्त अनुभवों और निष्कर्षों को सूक्तियों के रूप में अनायास उनकी आलोचना में देखा जा सकता है। नामवर सिंह की आलोचना-

भाषा उनकी सूक्तियों की सूत्रात्मक भाषा से दर्शन की भाषा की गूढ़ता को पहुँचती प्रतीत होती है, लेकिन अपनी स्पष्टता को नहीं खोती और न ही कोरी भाषिक कवायद बनती है। जैसे कहानी में कविता की-सी भाषा लिखने वाले कहानीकारों के संबंध में यह उक्ति- "अनुभूति और सौंदर्य के लिए बहुतों ने अपना दृष्टिकोण खोया है और जिनके पास कोई दृष्टिकोण ही नहीं था, उन्होंने अपनी कला भी खोयी है।"[65]

अपने 'आकाशधर्मा गुरू' हजारीप्रसाद द्विवेदी की तरह नामवर सिंह भी आलोचना में निर्देशात्मक भाषा से बचते हैं। जहाँ उनकी समझ रचनाकार की समझ से अलग जाती है, वहाँ भी उनकी भाषा में मित्रवत सुझाव की भंगिमा भाषा में अधिक रहती है, वह भी साहित्य की गरिमा के अनुरूप बेहद कलात्मक- "निःसंदेह कहानी बेहद नाजुक कला है, अश्क के दोस्त राजेन्द्र सिंह बेदी की 'लाजवन्ती' की तरह। और लाजवन्ती की यह बूटी अत्यंत संवेदनशील हाथों की अपेक्षा रखती है। ज्यादा कलाबाजी से कुम्हला भी सकती है और रूखे हाथों के स्पर्श से भी। देखना है कि नये कहानीकार इसे कितनी सतर्कता और सजीवता से बढ़ाते हैं।"[66] व्यंग्य और चुटिली उक्तियों की कमी नामवर सिंह की आलोचना-भाषा में नहीं है। अपने निष्कर्ष को सिद्ध करने के लिए रचना की चीड़-फाड़ से भी वे नहीं कतराते, लेकिन उनकी आलोचना-भाषा में यह भंगिमा अक्सर अपने से पूरवर्ती या उम्रदराजों के प्रति अधिक है।

आलोचना का आदर्श और नामवर की आलोचना-भाषा का आदर्श और इससे इस बात की भी पुष्टि की आलोचना की भाषा आलोचना-कर्म के प्रति आलोचक के रवैये को उजागर करती है-

"शिकायत की गई है कि 'नामवर ने नयी कहानी पर इतने लेख लिखे हैं पर वे आज तक सफाई के साथ यह नहीं बता सके (बताएँ भी कैसे जब वे स्वयं उलझाव के शिकार हैं)

कि नयी कहानी क्या है और उसकी विशेषताएँ क्या हैं? कम-से-कम एक लेखक से ऐसे छात्रोचित सवाल की उम्मीद न थी। नयी कहानी की यदि कोई साफ-सुथरी परिभाषा दे भी दी जाय और उसकी कुछ परिभाषाएँ एक-दो-तीन करके गिना भी दी जायँ तो उसका क्या उपयोग है ? वैसे, कुछ लोगों का ख्याल है कि 'पाइंट्स' में लिखने से ही लेख 'पाइंटेड' होता है और 'पाइंट्स' हासिल होते हैं।) बल्कि मेरा तो ख्याल है कि इससे लाभ की जगह हानी होती है! कम-से-कम जो लोग फ़तवे के खिलाफ़ हैं उन्हें तो ऐसे फ़तवों की माँग नहीं ही करनी चाहिए। सवाल तो यह है कि इधर की कहानियों में जो नयापन आ रहा है उसे एक-एक कहानी के बीच में समझते और परखते हुए अपने कहानी-सम्बन्धी पूर्वनिर्मित राग-बोध का विस्तार किया जाए। और यह कार्य एक-एक कहानी के अंतरंग विश्लेषण से ही हो सकता है जिसके लिए कहानी पढ़ने की पद्धति को अधिकाधिक यथातथ्य और परिष्कृत बनाने की आवश्यकता है। मुख्य प्रश्न पद्धति का है, प्रतिमान का नहीं। यदि साहित्य-रचना में आज बने-बनाए सिद्धांतों की अपेक्षा रचना-प्रक्रिया के महत्व पर जोर दिया जा रहा है तो साहित्य-समीक्षा में भी बने-बनाए प्रतिमानों की अपेक्षा पाठ-प्रक्रिया पर जोर देने की जरूरत है। इस संदर्भ में अत्यंत नम्रता से मैं निवेदन करना चाहूँगा कि एक अरसे से यथाशक्ति मैं वही कार्य कर रहा हूँ और अपने खयाल से सैद्धांतिक ढंग से सामान्य बातें न कहते हुए भी सिद्धांतों के निर्माण में योग दे रहा हूँ। हो सकता है कि फ़तवे की तानाशाही भाषा समझने के अभ्यस्त लोगों को इससे उलझन होती हो किंतु उन्हें संतुष्ट करने के लिए मैं यह पद्धति बदलने से इनकार करता हूँ।"[67] आलोचना में इस तरह अपना बयान देने के मौके नामवर सिंह अधिक नहीं लेते क्योंकि उनका कहना है- "आलोचक के नाते उत्तम पुरुष में बोलने की मेरी आदत नहीं है।"[68] यह बात नामवर सिंह की आलोचना-भाषा, आलोचक दृष्टि की वस्तुनिष्ठता और आलोचना-भाषा के सामान्य आदर्श को स्पष्ट

करती है। उत्तम पुरुष में बोलने का अर्थ है-'मैं, मेरा, मुझे, मुझसे' के संदर्भ में बोलना। उत्तम पुरुष में बोलना आत्मनिष्ठ होकर बोलना है जो रचनाकार का क्षेत्र है, आलोचना का नहीं। इसी तरह फ़तवे की भाषा भी आत्मनिष्ठ, बल्कि आत्ममुग्ध भाषा का स्वभाव है, जिससे नामवर सिंह अपनी आलोचना-भाषा को बचाते हैं।

नामवर सिंह अपनी आलोचना-भाषा को 'आलोचना के पुरातत्त्वविदों की बोझिल शैली'* और पत्रकारिता की चटपटी भाषा, दोनों से बचाते हैं। आलोचना में पुरातत्वविदों की शैली का अर्थ है ऐसी आलोचना जो पुराने शास्त्रों को बिना प्रासंगिकता या किसी सार्थक संदर्भ के विचार के, दोहराती रहने वाली शैली है; इसमें शोध की भंगिमा तो रहती है लेकिन न कुछ नया खोजा जाता है और न ही पुरानी ज्ञात बात को किसी नये संदर्भ में प्रभावोत्तेजक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। दूसरी तरफ पत्रकारिता की सनसनीखेज और गैर-साहित्यिक भाषा का आलोचना में प्रयोग पाठक की चेतना के लिए हानिकारक मानते हैं। भाषा को नामवर सिंह सम्प्रेषण के पहले संवेदन को परिभाषित करने का माध्यम मानते हैं। अतः आलोचना-भाषा को वे आलोचक की बात पाठक तक पहुँचाने भर का ही माध्यम नहीं मानते, बल्कि आलोचना की भाषा से पाठक की चेतना के संस्कार (जो पाठक के अजानते होता है) का होना भी मानते हैं। अतः अपनी आलोचना की भाषा को वे भरसक संवेदनशील, विचारोत्तेजक और आत्मीय संवादधर्मी बनाते हैं।

निष्कर्षत: चारों आलोचकों की आलोचना-भाषा एक-दूसरे से बहुत-कुछ अलग है। इससे स्पष्ट होता है कि आलोचना की जैसे कोई एक ही निर्दिष्ट पद्धति नहीं होती, उसी तरह आलोचना की एक निर्दिष्ट शैली नहीं होती। आलोचना इस अर्थ में रचना है कि आलोचक अपनी अभिव्यक्ति के लिए अपनी प्रकृति के अनुरूप भाषा का सोद्देश्य सर्जनात्मक प्रयोग करता है। रामचंद्र शुक्ल की भाषा आलोचना विधा की शास्त्रीय और

वस्तुनिष्ठ प्रकृति के अनुरूप हिंदी आलोचना की भाषा में गम्भीरता, अर्थक्षमता और प्रांजलता लाती है तो हजारीप्रसाद द्विवेदी की भाषा आलोचना में भाषा के व्यक्तिनिष्ठ सार्थक प्रयोग की सम्भावना को प्रस्तुत करती है। रामविलास शर्मा की भाषा आलोचना को उसकी पूरी गम्भीरता और सौंदर्य के साथ भी सामान्य शिक्षित वर्ग की रुचि और समझ के दायरे में आ सकने लायक लचीलेपन से भरती है जो नामवर सिंह की आलोचना-भाषा आलोचना के सर्जनात्मक रूप का उदाहरण प्रस्तुत करती है। मूल्यांकन गम्भीर, तार्किक होने के साथ आत्मीय और रोचक भी हो सकता है, आलोचना प्रभावाभिव्यंजक हुए बिना भी प्रभावी और रचनात्मक हो सकती है, यह इन आलोचकों की भाषा से सिद्ध होता है।

***

संदर्भ सूची

1. रामचंद्र शुक्ल रचनावली-3, काव्य में अभिव्यंजनावाद
2. नयी कहानी आलोचना,
3. रामचंद्र शुक्ल रचनावली-3, 371
4. वही, 371
5. वही, 353
6. वही, 416
7. वही, 416
8. वही, 417
9. वही, 417
10. वही, 418
11. वही, 196
12. वही, 197
13. आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, 207
14. रामचंद्र शुक्ल रचनावली-3, 357
15. रामचंद्र शुक्ल रचनावली-2, 130
16. सिंह, नामवर, रामविलास शर्मा, संपादक- ज्ञानेन्द्र कुमार संतोष, नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन- 50
17. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, 180
18. वही, 181
19. वही, 181

20. वही, 181

21. साहित्य सहचर, 112

22. आस्था के चरण, 318

23. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-8, 257

24. वही, 190-91

25. वही, 134

26. आस्था के चरण, 318

27. वही, 318

28. दूसरी परम्परा की खोज, 129-130

29. वही, 130

30. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-8, 196

31. वही, 122

32. वही, 137

33. वही, 347

34. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-7, 291

35. आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, 38

36. प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, 36

37. निराला की साहित्य साधना, भाग-2, 293

38. निराला की साहित्य-साधना भाग-2, 289

39. भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास-परम्परा, 88-89

40. वही, 55

41. भाषा, युगबोध और कविता, 155

42. परम्परा का मूल्यांकन, 219

43. वही, 249

44. वही, 253

45. थैंक यू फॉर आर्ग्युइंग, थ्री रीवर्स प्रेस: न्यू यॉर्क सिटी, 2017, पृष्ठ- 303

46. भाषा, युगबोध और कविता, 10

47. वही, 10

48. वही, 10-11

49. भारतेन्दु युग और हिंदी भाषा की विकास परम्परा, 9

50. वही, 15

51. वही, 87

52. वही, 50

53. वही, 48

54. वाद विवाद संवाद, 27

55. वाद विवाद संवाद, 26

56. हिंदी आलोचना का दूसरा पाठ, 103

57. आलोचना त्रैमासिक, जुलाई-सितम्बर-2019, 27

58. इतिहास और आलोचना, 109)

59. आलोचना, जुलाई-सितम्बर-2019, 26

60. बात बात में बात, 133

61. वही, 133

62. वही, 133

63. कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता, 163

64. बात बात में बात, 134

65. कहानी नयी कहानी, 38

66. वही, 40

67. वही, 163

68. आलोचना और विचारधारा, 194